राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषत. राजस्थान-प्रदेशीय पुरातनकालीन
सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भापा-निवद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक
दशरथ शर्मा, एम ए , डी.लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

ग्रन्थाङ्क ११९

श्रीविश्वनाथदेवप्रणीतम्

सङ्गीतरघुनन्दनम्

[व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकाख्यया स्वोपज्ञव्याख्यया सवलितम्]

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राज०)
१९७४ ई०

प्रधानसम्पादकीय वक्तव्य

'सङ्गीतरघुनन्दनम्' को "राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला" के ११९ वें पुष्प के रूप मे प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता है। उससे पूर्व महाराजा श्रीविश्वनाथसिंह ने भगवद्भक्ति से ओतप्रोत अनेक ग्रन्थ सहृदय जनता के सम्मुख प्रस्तुत किये थे। किन्तु, देववाणी-प्रेमी जनता की मांग थी कि महाराजा संस्कृत में भी अपनी कृति और विचारों को उसके समुख रखें। महाराजा से अब तक अनेक उत्तम ग्रन्थों की भेंट देवी सरस्वती को मिल चुकी थी। अब आवश्यकता थी एक उत्तमोत्तम काव्य की—ऐसे काव्य की जिसे वे भगवत्कृति तक मान सकें और उसे प्रस्तुत करते समय अपने आपको केवल साधनमात्र समझें।

काव्य की सहचरी 'व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिका" नाम की टीका की रचना भी स्वय महाराजा विश्वनाथ ने की है। ग्रन्थ के अर्थ-गौरव को समझने के लिए यह विशेष रूप से पठनीय है।

दशरथ शर्मा
निदेशक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
जोधपुर।
वसत पञ्चमी, संवत् २०३०।

— विषयानुक्रम —

प्रास्ताविक

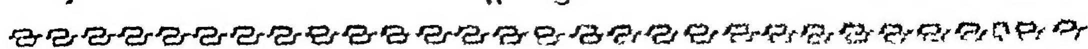
भारत मे काव्यधारा अनेक रूप मे प्रवाहित हुई है। उसने अनेक रसो का आश्रय लिया है और अपनी अनेकरूपा अभिव्यक्ति से उसे समृद्ध किया है। ऐसा कोई रस नही, कोई ऐसी भाषा नही, जिसमे भारतीय कवि की प्रतिभा न स्फुरित हुई हो; और न कोई ऐसा समुदाय ही है जो भारती के इस प्रसाद से वचित रहा हो। राजा और रक, ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री और पुरुष, बालक और वृद्ध सभी पर इसकी कृपा हुई है।

हाँ, यह अवश्य है कि देश, काल और आश्रय के भेद से यह कृपा विभिन्न रूप धारण करती रही है। मध्यकाल मे जब हिन्दू-मुस्लिम-सघर्ष जोरो पर था, इसने चन्द्र वरदाई, श्रीधर और पद्मनाभ के काव्य को ओजस्विता प्रदान की। मलिक मुहम्मद जायसी के हाथो यह सूफी रग से रजित हुई। अकबर बादशाह के शान्ति और समृद्धि के युग मे यही भक्ति-प्रवण हुई। भगवान् मे अनुराग भक्ति का मुख्य लक्षण है, और भगवत्सान्निध्य ही भक्त का परम पुरुषार्थ। उसे मोक्ष की भी कोई लालसा नही। किन्तु भक्त भगवान् को एक ही रूप मे नही देखते। कोई उसे सखा, तो कोई उसे स्वामी, कोई उसे बालक, तो कोई उसका प्रेमी के रूप मे दर्शन करता है। इसी दृष्टि-वैविध्य के कारण भक्तिभाव मे भी विविधता हुई है। सूरदास, तुलसीदास और मीराँ तीनो ही भगवद्भक्त थे। सूरदास और मीराँ ने भगवान् को कृष्ण के रूप मे देखा; तुलसीदास ने राम को परब्रह्म मानते हुए उनकी भक्ति की। किन्तु यह ध्यान रहे कि तुलसीदास ने राम के जिस रूप की अभिव्यक्ति की, वह परम्परा के अनुकूल थी, वह कोई नयी वस्तु नही। हजारो वर्ष पूर्व आदि कवि वाल्मीकि के सामने देवर्षि नारद ने उसे विवृत किया था।[1]

यही रामायणीय परम्परा प्राचीन रामकाव्यो और नाटको मे रक्षित है, चाहे लेखक कालिदास हो या परतर कोई अन्य कवि। योगवासिष्ठ और अध्यात्म-रामायण मे भी राम का उदात्त स्वरूप प्रदर्शित है और यह उदात्त स्वरूप उस कोटि तक पहुँचता है जिसमे भक्त राम को केवल पुरुषोत्तम के रूप मे ही नही, भगवान् के रूप मे देखता है।

---

१. देखें परिशिष्ट—१।



कृष्णपरक भक्तिधारा आरम्भ से ही राम-धारा से कुछ भिन्न थी। श्रीमद्भागवत के कृष्ण गोपीवल्लभ, केशि- कंस-निषूदन एवं कुब्जाप्रणयी हैं। गोपियो को जीव का प्रतीक मान कर कृष्णलीला को समझना सम्भव है, परन्तु प्राकृत पुरुष अधिकतर ऐसा नही करते; और जो स्वयं उस तथ्य के ज्ञाता हैं, उन्हें इस तत्व को समझाने की आवश्यकता ही क्या है ? उस प्रकृष्ट भक्ति से प्रभावित गौरांग महाप्रभु चैतन्य अपने पुंस्त्व को सर्वथा भूलकर कह उठते हैं—

"आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनात् मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नाऽपरः ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में शृंगारिता अपने उत्कर्षविन्दु पर पहुँची है। उसकी रासक्रीडा में राधा और सुशीलादि तेंतीस सखियाँ सम्मिलित हुई थी। सुशीला और चन्द्रमुखी के साथ सोलह-सोलह हजार; कदम्बमाला और माधवी के साथ तेरह और ग्यारह; यमुना और कुन्ती के साथ चौदह और दश; जाह्नवी और पद्ममुखी के साथ नौ-नौ; सावित्री और पारिजाता के साथ पन्द्रह और दश; सुधामुखी और स्वयप्रभा के साथ चौदह और सात हजार; सर्वमंगला के साथ सोलह और गौरीपद्मा के साथ चौदह; कालिका और कमला के साथ सोलह और तेरह; दुर्गा और सरस्वती के साथ सोलह और तेरह; भारती और अपर्णा के साथ दश और चौदह: रति और गगा के साथ दश और चौदह; अम्बिका और सती के साथ सोलह और तेरह; नन्दिनी और सुन्दरी के पीछे चौदह और तेरह; कृष्णप्रिया और सुन्दरी के साथ सोलह-सोलह; और चम्पा एव चन्दना के पीछे तेरह और सोलह हजार गोपियाँ आईं (श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड, अध्याय २८)। इसके बाद का वर्णन अत्यन्त शृंगारपूर्ण है। सम्भव है कि ऐसे ही वर्णनो के आधार पर मध्यकालीन मन्दिरो की भित्तियो पर उत्कीर्ण अश्लील मूर्त्तियाँ बनी हो।

रीतिकाल मे तो नख-शिख और शृंगारवर्णन की मानो बाढ ही आ गई। फिर रामकाव्य उससे किस तरह अछूता रहता ? तुलसी-काल में रचित भी अनेक ऐसे छोटे-मोटे ग्रन्थ हैं जिनमे इस नवीन धारा की छाप स्पष्ट रूप से वर्त्तमान है। उनके बाद के ग्रन्थो का तो कहना ही क्या है। इनकी संख्या तो इतनी अधिक है कि कुछ विद्वानों का मत है कि तुलसी अपने समकालीन भक्ति के क्षेत्र में शृंगारी रामभक्ति के एक अपवाद से प्रतीत

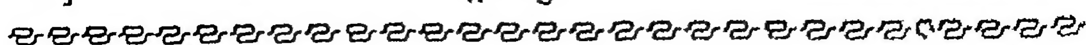


होते हैं । यदि इन ग्रन्थों का हमें विशेष ज्ञान नही है, तो इसका यही कारण हो सकता है कि इन सिद्धान्तो को गोपनीय रखा जाता था और आचार्यगण केवल योग्य एव अधिकारी साधकों को ही इनका उपदेश देते थे । इसलिए यह साहित्य विपुल राशि मे होता हुआ भी प्रकाशन के अभाव मे जनसामान्य के समक्ष न आ सका ।

साम्प्रदायिक रामसाहित्य मे यह माधुर्य-भक्ति की धारा पाँच नामो से अभिहित है—जानकीसम्प्रदाय, रहस्यसम्प्रदाय, रसिकसम्प्रदाय, जानकीवल्लभसम्प्रदाय और सियारामसम्प्रदाय । इनमे 'रसिकसम्प्रदाय' नाम का प्रचलन ही सर्वाधिक हुआ । इसका कारण यह दिया जाता है कि इस धारा के प्रवर्त्तक अग्रदास को इस धारा के अनुयायियों ने रसिक-नाम से ही अभिहित किया है । कृष्णभक्ति मे प्राय. शृ गारी भक्तो को ही रसिक कहा गया है, किन्तु रामभक्ति मे अन्य प्रकार के भक्तो के लिए भी रसिक-शब्द प्रयुक्त होता है । आचार्य बाल अली ने वात्सल्य, दास्य, सख्य और शृ गारी भाव से सीताराम की उपासना करने वालो को रसिक माना है और इन भक्तो में भी सखीभाव से भगवान् की उपासना करने वालो को सबसे ऊँचा स्थान दिया है । फिर भी अपने भावसम्बन्ध के अनुसार ये एक दूसरे से परमस्नेहयुक्त व्यवहार करते थे । सखाभावना वाले सन्त रामसखे की तो स्पष्ट घोषणा थी कि सीता और राम के विवाह से निमिवशी सब उनके साले थे ।

रसिकसाधना के प्रवर्त्तन का श्रेय ध्यानमञ्जरी आदि ग्रन्थो के रचयिता स्वामी अग्रदास को है । हिन्दीसाहित्य मे भक्तिमार्ग के प्रथम लेखक नाभादास इन्ही के शिष्य थे । अपनी माधुर्यभक्ति के ही कारण ये नाभा अली के नाम से भी प्रसिद्ध हैं । नाभाजी ने सीता-राम की चारुशीला और चन्द्रकला नाम की दो सखियो को मुख्य स्थान दिया है । आगे जाकर इन्ही के नाम से रसिक-सम्प्रदाय की दो मुख्य शाखाएँ स्थापित हुईं ।

अकबर और जहाँगीर के समय भक्ति-सम्प्रदाय की रसिकधारा फलती-फूलती रही, किन्तु शाहजहाँ के समय से हिन्दुओ पर अत्याचार होने लगे और औरगजेब जब गद्दी पर बैठा, तो हिन्दुओ की दशा और भी खराब हो गई । अयोध्या पर तो इनकी कठोर दृष्टि विशेष रूप से थी । इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक सघर्ष का भी रामभक्तो को सामना करना पडा ।



मुगल-साम्राज्य के पतन के वाद हिन्दू किसी अंश तक जागृत हुए। दिल्ली के परवर्ती मुगल-शासकों और अवध के नवाबो का उनसे व्यवहार अच्छा था। मन्दिरो का जीर्णोद्धार और निर्माण हुआ और अखाड़ो की स्थापना हुई। उन्नीसवी शताब्दी में रसिक-आचार्य रामचरणदास जी के नेतृत्व मे रसिकसम्प्रदाय का अत्यधिक प्रसार हुआ। पूर्वाचार्यों के समान इन्होने भी कहा:—

"सखि सखा अरु दास जो, भाव विना नहिं होई।
तीनो को अधिकार यह, भाव भावमय सोई॥"

कृष्णभक्ति का भी रामभक्ति पर प्रभाव इस समय विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसी को ध्यान मे रखते हुए डॉ० भगवतीप्रसादसिंह ने लिखा है—"दोनों माधुर्यप्रधान सम्प्रदायो मे सखाओ और सखियो के भेद, यूथेश्वरियो की कल्पना एव युगल-विलासलीलाओ के वर्णनो में प्राप्त एकरूपता से इसका समर्थन होता है। सखीभाव के उपासक सन्तो ने अपने आचार्यों को 'युगल सरकार' एव उन षोडश मुख्य सखियो का अवतार माना है, जो सीताजी की वाल सखियाँ और महाराज जनक तथा उनके भाइयो की पुत्रियाँ थी। वे अपने आत्म-स्वरूप को यूथेश्वरियो की बहिनो अथवा निमिवशी कुमारियो से अभिन्न मानते हैं और सीताजी के साथ ही स्वय को राम की परिणीता समझते हैं, किन्तु स्वामी से उनका सम्बन्ध सीधा न होकर सीताजी के माध्यम से होता है, कारण कि उनका सीता से अलग कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही है। दार्शनिक दृष्टि से वे सीताजी की अशभूता तथा अगभूता हैं अत एव जार, परकीया तथा सपत्नीभाव की कल्पना रामभक्ति की इस रागात्मिका धारा में न हो सकी।"

महाराजा विश्वनाथसिंह

इसी भक्ति-धारा के प्रमुख व्यक्तियो मे महाराजा विश्वनाथसिंह की भी गणना की जा सकती है। महाराजा विश्वनाथसिंह रामभक्ति की इस रसिक-धारा के सहायकमात्र ही नही थे, प्रत्युत इनकी विधिपूर्वक दीक्षित साधकता के भी प्रमाण मिलते हैं। रसिकभक्ति का प्रकार एक नहीं है, अपि तु विभिन्न उपासको ने इस धारा की विविध विधाओ का आश्रय लिया है—यह रसिक-साहित्यपरम्परा के अवेक्षण से स्पष्ट प्रतीत होता है। अत रसिकभक्ति के



आचार्यों की जीवन गाथा के साथ उनकी भक्तिविधा भी विशिष्ट महत्त्व रखती है। वस्तुत: रसिक कवि स्वसम्मत भक्तिविधा से प्रेरित होकर तदनुकूल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए काव्य को माध्यम बनाता है। किसी भी व्यक्ति की कृति-विशेष वह स्वच्छ आदर्श है जिसमे उसके व्यक्तित्व की प्रतिकृति स्पष्ट रूप मे प्रतिबिम्बित होती है। अत: महाराजा विश्वनाथसिंह का जीवनपरिचय प्रस्तुत करते समय उनकी वैयक्तिक भक्तिविधा का अनुसन्धान हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। इनके विषय मे कहा जाता है कि वे श्रीसीताराम की अष्टयाम-भावना सखीरूप मे किया करते थे। मानव को प्रत्येक क्षेत्र मे प्रारम्भिक प्रवेश करते समय गुरु की आवश्यकता रहती है। कुछ जन्मजात प्रतिभाओ के विषय मे यह अपवाद भी हो सकता है. परन्तु गुरु का जीवन मे अपरिहार्य महत्त्व होता है। महाराजा विश्वनाथसिंह को भी शृगारी साधना के रहस्यों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता हुई और तदनुसार उन्होने महात्मा प्रियादास से 'षडक्षर राममत्र' का उपदेश ग्रहण किया था। इनके पुत्र महाराजा रघुराजसिंह ने इनकी सखीभावना से युक्त भक्ति एव षडक्षर राममन्त्र की प्राप्ति के विषय मे रामरसिकावली मे कहा है—

करे भावना ध्यानहिं माँही। सखीरूप सियरामहिं काही।
एक समय विशुनाथ को, स्वप्ने शकर आय।
राम षडक्षर मन्त्र को, तेहि एकान्त ले जाय॥

विश्वनाथसिंह ने प्रारम्भ मे रसिकभक्ति की सखीरूप विधा को अपनाया, परन्तु यह अनुश्रुति है कि एक बार वे चित्रकूट के नित्यरास मे सखीरूप में सम्मिलित हुए थे और इसके बाद वे जीवनपर्यन्त स्वयं को दिव्यदम्पती का पार्षद मानकर उनकी उपासना मे तल्लीन हो गये। जैसा कि—

आयो पुनि रीवाँ नगर, राम रंग महँ छाकि।
पार्षद वपु मानत निजै, रहन लगो प्रभु ताकि॥

उस समय से कवि की रासलीला मे बहुत श्रद्धा हो गई और वे राम का सर्वत्र 'रासबिहारी' के रूप मे दर्शन करने लगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'सगीतरघुनन्दन' में हमे सर्वत्र रसिक राम के रसमय चरित्र के दर्शन होते हैं। वास्तव में रासविहारी राम के रसमय चरित्र मे रमरा करना ही कवि को अभिप्रेत है। यथा—



यदधिकरति रसपतिरपि कुरुते पश्यन्ननिशनिवासम् ।
विश्वनाथनाथोऽपि ससीतस्तनुते रासविलासम् ।।४।। (द्वि० सर्ग)

प्रस्तुत श्लोक के उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि के राम सीता के साथ रासविलास में रात-दिन तल्लीन है. रसपति शृ गार का वहाँ सदैव आवास है । कवि ने राम को 'विश्वनाथनाथ' पद से सम्बोधित किया है और यह पद कवि के दास्यभाव (सेवकभाव) की ओर इगित करता है ।

सगीतरघुनन्दन के प्राय: प्रत्येक सर्ग के अन्त मे कवि ने 'श्रीरामचन्द्र कृपापात्राधिकारी' शब्द प्रयुक्त कर भी राम के प्रति अपने दास्यभाव को अभिव्यक्त किया है । अत इस काव्य में कवि की भक्तिविधा सखीरूप या अन्य प्रकार की नही कही जा सकती । कवि ने सेवकभाव के माध्यम से राम के अतिरसिक स्वरूप को प्रस्तुन करने का भरसक प्रयत्न किया है । टीका मे भी यत्र-तत्र कवि की 'तेन च श्रीरघुनन्दनस्यातिरसिकत्वमिति', इत्यादि उक्तियो द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है ।

'सगीतरघुनन्दन' की विशिष्टता

प्रस्तुत रचना से पूर्व कवि ने सस्कृत में कृतियाँ नही लिखी थी . 'रामरसिकावली' के अनुसार सगीतरघुनन्दन ही उनका सस्कृत मे रचित आद्य महाकाव्य है और उन्हे सस्कृत-कृति के निर्माण के लिए किस प्रकार प्रेरणा प्राप्त हुई, उसका भी इसमे उल्लेख किया गया है —

स्वप्न माहि प्रभु शासन दीन्हो । क्यो नहि ग्रन्थ सस्कृत कीन्हो ।।
तब सगीतरघुनन्दन ग्रन्था । रच्यो राम-सिया-रासु-सुपन्था ।।
बहुरि राम आह्निक निर्मण्यो । निशि दिन चरित राम जो ठान्यो ।।

वस्तुत. महाराजा विश्वनाथसिह की काव्य प्रतिभा विलक्षण है, उन्होने विविध प्रकार के काव्यो की रचना की है । यद्यपि कवि की समस्त रचनाओ की निश्चित सख्या का उल्लेख तब तक नही किया जा सकता जब तक कि इस पर पूर्ण शोध न की जावे, फिर भी उपलब्ध जानकारी के अनुसार महाराजा विश्वनाथसिह ने पचास से भी अधिक काव्य एव काव्येतर ग्रन्थो[१] का प्रणयन कर अपनी उत्कृष्ट कवित्वशक्ति का परिचय दिया है, साथही सगीतप्रधान

१ देखें परिशिष्ट-२ ।

प्रस्तुत काव्य की रचना कर उन्होने अपनी सङ्गीतशास्त्र की विशिष्ट मर्मज्ञता का भी प्रदर्शन किया है। एक शासक द्वारा ऐसी विलक्षण काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन उसका विशिष्ट भूषण है। यह भारतीय सस्कृति की अद्वितीय परम्परा है कि यहा शासक कवित्वशक्ति एव विद्वत्ता से सम्पन्न होते थे। जो स्वय कवि न होते थे, वे कवियों का हृदय से आदर करते थे एवं उनको सरक्षण भी प्रदान करते थे। अत: महाराजा विश्वनाथसिंह एवं भोजादि केवल राजनीतिप्रवण कुशल शासक ही नही थे, प्रत्युत अपनी निसर्गसिद्ध कवित्त्व-शक्ति के लिए प्रख्यात हैं।

कवि और उनके गुरु प्रियादास

रामभक्ति और साहित्यप्रेम की विशिष्ट परम्परा के लिए रीवाँ-राजवश प्रसिद्ध है। महाराजा विश्वनाथसिहजू देव का जन्म इसी ऐतिहासिक वश में चैत्र शुक्ल १४ सवत् १८४३ (१७८९ ई०) मे हुआ था। इनके पिता महाराजा जयसिंह कवि होने के साथ ही अनन्य साहित्यानुरागी भी थे। पितृगुणानूरूपता को यदि ध्यान मे रखा जाए तो महाराजा विश्वनाथसिंह अपने पिता की तरह कुशल प्रशासक ही नही, कवि के रूप मे भी उत्कृष्ट कवि भी थे। यह उनकी राजवशपरम्परा की समुन्नत एव सुसस्कृत दशा का बहुत अच्छा प्रमाण है। महाराजा विश्वनाथसिह के जन्म के विषय मे इनके पुत्र रघुराजसिह ने कहा भी है—

लियो जन्म मो पितु विशुनाथा।
रीवां नगर महामुदगाथा ॥

महाराजा विश्वनाथसिंह के पिता की साहित्यसाधना के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है, किन्तु अन्य विषयों की अपेक्षा इसका विस्तृत विवेचन यहाँ अपेक्षित नही है। इनके पिता का नाम जयसिंहदेव ही था, इस बात की पुष्टि विश्वनाथसिंह के प्रस्तुत ग्रन्थ से भी हो जाती है। यथा—

विन्ध्ये रिपुगजसिंहो जयसिंहो राजसिंहोऽस्ति।
तनुते तस्य तनूजो ग्रन्थ सगीतरघुनन्दनाख्यम् ॥ (प्रथम सर्ग)

कवि ने कई ग्रन्थो मे हरिरूप प्रियादासगुरु अथवा प्रियादास नाम से अपने गुरु का उल्लेख किया है। प्रस्तुत काव्य मे गुरुवन्दना करते हुए प्रियादास का उल्लेख इस प्रकार किया है—



सीतारामरहस्य मा बोधयन्ति हृदम्बुजे ।
स्थितास्तान् हरिरूपाञ्छ्रीप्रियादासगुरून् भजे ।।

(प्रथमसर्ग पृष्ठ-१)

जयति सच्चिदानन्दघनवरदवरसर्वगुणशालिशृंगाररसपालिमूर्त्तिः,
सर्वजनवत्सल प्रविगलितमत्सर-प्रेमपाथोधि-पुरुषार्थपूर्त्तिः ।
सर्वगत-सर्वमत-सर्ववन्दितचरण-सर्वशरणागतोद्धृतिविहारी,
गुरुरूपरघुवर श्रीप्रियादास इह विश्वनाथान्तरे गीतकारी ।।५।।

(प्रथम सर्ग)

युवराज विश्वनाथसिंह ने इन्ही से गुरुदीक्षा ग्रहण की । श्रीप्रियादास कौन थे, कहा के निवासी थे- आदि का सङ्केत न तो श्रीविश्वनाथसिंह ने ही किया है और न अन्यत्र भी प्राप्त होता है ; फिर भी यह कहा जासकता है कि श्रीप्रियादास नाभाकृत भक्तमाल के टीकाकार प्रियदास से भिन्न, उच्चकोटि के तत्कालीन महात्मा एव धुरन्धर विद्वान् अवश्य रहे होंगे[1] ।

सम्पादन तथा प्रतिपरिचय

प्रस्तुत काव्य का यह सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियो (Manuscripts) पर आधारित है । एक प्रति दूसरी की अपेक्षा लम्बाई और चौडई मे बडी है । दोनो प्रतियो में अन्तिम सर्ग की टीका के पश्चात् सवत्, तिथि एव वार का निर्देश किया गया है, अत. इनके समय के विषय मे ऐतिहासिक परिकल्पनाओ के लिए अवकाश एव आवश्यकता नही रहनी । बड़ी प्रति का समय सवत्-१८६१ है और छोटी का सवत् १९२६ है । पाठान्तरो को प्रदर्शित करने की सुविधा के लिए दोनो प्रतियों के नाम प्रकल्पित कर लिए गये हैं । बडी प्रति का नाम 'क' है और दूसरी का नाम 'ख' है । 'क' 'ख' दोनो प्रतियो के अन्त में समय-निर्देश क्रमशः इम प्रकार किया गया है—'आषाढ कृष्णा ७ सवत् १८६१; संवत् १९३६ माघ शुक्ला अष्टमी कुज ।"

---

१ यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ और रघुराजसिंह के अनुसार तो श्रीप्रियादास ही विश्वनाथ के गुरु थे किन्तु डॉ० भगवतीप्रसादसिंह ने 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' के अनुसार रसिकाचार्य रामचरणदासजी को इनके 'रसिकदीक्षागुरु' होने का भी उल्लेख किया है ।

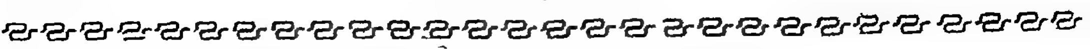


'क' प्रति का माप ३६X१६ सेन्टीमीटर है। इस प्रति मे मूलभाग एव टीका के लिये लम्बा २८ से. मी. एव चौड़ा १० से. मी. स्थान ग्रहण किया गया है। यह प्रति ६३ पत्रो मे सम्पूर्ण होती है। प्रति के प्रत्येक पृष्ठ मे पङ्क्तियो की न्यूनतम सख्या १० एव अधिकतम १६ है तथा प्रत्येक पृष्ठ मे शब्दों की सख्या लगभग १५० से २०० तक है। यह प्रति राजभवन पुस्तकशाला, अलवर (सन् १९०१ एव सवत् १९५७) की मुद्रा से मुद्रित है। अलवर-महाराजा की पुस्तकशाला से इसकी प्राप्ति के विषय मे इस प्रति के मुखपृष्ठ पर लिखित यह निर्देश भी प्रमाण-स्वरूप है—"सगीतरघुनन्दन पुस्तकशालाया महाराजाधिराज महारावराजा-सवाई विनयसिंहवर्मणाम्"।

इसी प्रकार 'ख' प्रति का माप २८X१५ सेन्टीमीटर है। इस प्रति में मूल एव टीका के लिये २३ से. मी. लम्बा और १०.३ से. मी. चौडा स्थान काम मे लिया गया है। इस प्रति का समापन ६० पत्रो मे होता है। प्रति के प्रत्येक पृष्ठ मे अधिकतम १६ पङ्क्तियॉ और न्यूनतम ९ या १० पङ्क्तियाँ है। वैसे अन्तिम पृष्ठ पर ७ पङ्क्तियाँ लिखित है, परन्तु यह ग्रन्थ की समाप्ति के कारण है। इस प्रति के प्रत्येक पृष्ठ मे शब्दो की सख्या लगभग २०० से २५० तक है। यह प्रति "श्रीविद्याभूषण-पुस्तकालय, जयपुर" की मुद्रा से अङ्कित है; साथ ही मे यह राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जयपुर, शाखा की मुद्रा से भी सवलित है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि 'राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान की जयपुर-शाखा ने इसे 'श्रीविद्याभूषण-पुस्तकालय' से प्राप्त किया है।

पाठप्रस्तुति की विधि—

दोनो हस्तलिपियो मे पाठप्रस्तुति की विधि प्राय: एक जैसी है। प्रत्येक पृष्ठ के मध्यस्थल मे मूलभाग प्रस्तुत किया गया है और मूल दोनो तरफ टीका से सवलित है। पाठप्रस्तुति मे आधुनिक व्यवस्था का अभाव है। प्राय एक पृष्ठ मे ३, ४ या ५ श्लोको को समूहरूप मे प्रस्तुत किया गया है, न कि पृथक् रूप मे। यदि कोई एक ही श्लोक दीर्घकाय है, तो उसे विवशतया दूसरे श्लोको से असम्पृक्त रखा गया है। श्लोको के ऊपर और नीचे दोनो तरफ टीका लिखी गई है। प्रत्येक श्लोक की टीका की समाप्ति के पश्चात् श्लोकसख्या दी गई है जिससे विशेष काठिन्य नही होता। मूलभाग और टीका मे कुछ स्थानावकाश भी रखा गया है: मूल भाग को टीका की अपेक्षा अधिक बड़े अक्षरो मे लिखा गया है



जिससे सम्मिश्रण की समस्या नही आती। कही-कही स्थान न छोडते हुए मूल की पङ्क्ति से ही टीका का समारम्भ कर दिया गया है। प्रत्येक सर्ग की समाप्ति की सूचना के लिये मूल और टीका दोनो के नीचे पृथक्तया प्रस्तुत करने की विधि अपनाई गई है। श्लोको के लेखन का ढग विशेष सुव्यवस्थित नही है क्योकि चरणविभाजन कर प्रस्तुत करने में पूरी अनवधानता बरती गई है; प्राय. गद्य की तरह उन्हे एक पङ्क्ति मे ही लिख दिया गया है। टीका मे प्रतिपाद्य के विशदीकरण के लिये अन्य ग्रन्थो के प्रस्तुत श्लोको को भी व्यवस्थित रूप से नही लिखा गया है।

उक्त दोनो प्रतियों में लिपि की दृष्टि से 'क' प्रति अधिक सुवाच्य एव सुन्दर अक्षरो मे लिखित है और द्वितीयसर्गपर्य्यन्त तो यह प्रति अतीव सुवाच्य है, जब कि 'ख' प्रति अवान्तरकाल में लिखित होने पर भी उसमे 'क' प्रति जैसी सुवाच्यता का अभाव है। यद्यपि दोनो पाण्डुलिपियो मे पदो की पृथक्ता का विशेष ध्यान न रखते हुए यत्र-तत्र उन्हे अन्य पदो के साथ मिला दिया गया है, कही-कही पर सन्धिच्छेद की त्रुटियाँ भी प्राप्त होती हैं और सयुक्ताक्षर वाले पद कही-कही पर अस्पष्ट हो गये हैं फिर भी 'क' प्रति 'ख' प्रति से अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध एव सुवाच्य है। क्योकि ख. प्रति मे य, प, म अक्षरो की जगह पर 'म' का ही प्रयोग अधिकत. पाया जाता है। श और स मे भी बहुत कम अन्तर है अर्थात् श की जगह पर स का तथा स की जगह पर श का प्रयोग मिलता है जब कि द की जगह पर द्य और घ ही लिखा मिलता है; इसी प्रकार न, त, द, ड, द्र, ढ़ आदि ऐसे भी अक्षर है जिनका निर्णय करना पाठक की सन्दर्भानुसार बुद्धि एव विवेक पर निर्भर करता है।

पाठान्तर एवं पाठवैषम्य—

दोनो प्रतियो के सम्यगवलोकन से यह तो स्पष्ट ही है कि 'ख' प्रति 'क' प्रति की अनुकृति नहीं है अतः इन में पाठान्तरो एव पाठवैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक है। जो पाठ 'क' प्रति में नही हैं वे 'ख' प्रति मे उपलब्ध हैं। इसी प्रकार 'ख' प्रति में अनुपलब्ध पाठ 'क' प्रति मे विद्यमान हैं। इस तथ्य की पुष्टि के लिये कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। जैसे—क. प्रतिस्थित 'नि शेषच्युतचन्दन' के स्थान पर ख. प्रति में 'नि.शेषच्युतवदन', 'मूर्च्छन्मोह०' की जगह 'मृर्च्छन्मोह०' और 'ध्वनिभिर्ध्वनीनापुद्भवात्' के स्थान पर 'ध्वनि-

न्निर्ध्वनोनाद्भवात्' आदि पाठ मिलते हैं । इसी प्रकार क. प्रति मे विद्यमान प्रथम सर्ग के २५ वे श्लोक की व्याख्या के "अमितकोटिब्रह्माण्डवलितत्वे प्रमाणम्...... ......—....विराजो अधिपूरुष इति तस्मात्" इस षट्पक्त्यात्मक अश के स्थान पर ख. प्रति मे 'तस्येचवस्र्तत्कारणभूत पूर्णब्रह्म तस्मात्" केवल यह अश ही प्राप्त है । इसी प्रकार तृतीय सर्ग के प्रारम्भ मे सर्वाधिक पाठवैषम्य उपलब्ध होता है। तृतीय सर्ग का मूल गद्यमय है । इस सर्ग के प्रारम्भ मे "मालती-लवङ्गदल्लय...—...मागा इति" यह गद्यभाग केवल 'ख' प्रति मे ही विद्यमान है जब कि इस गद्यभाग की टीका दोनो प्रतियो मे उपलब्ध है; किन्तु इस गद्यभाग की टोका के पश्चात् "इति अस्यार्थोऽपि—......मता इति" यह सात स्वरो की विस्तृत व्याख्या केवल 'क' प्रति मे ही प्राप्त है, ख. प्रति मे नहीं । उक्त पाठ-वैषम्यो के अतिरिक्त भी अन्यस्थलो मे अनेक पाठान्तर प्राप्त होते हैं, किन्तु यहाँ पर संक्षेप की दृष्टि से इतने थोडे ही उदाहरण दिये गये है जिससे कि उपरिकथित तथ्य की सच्चाई का भान हो सके ।

पाठ की सुग्राह्यता—

उपर्युक्त प्रतियों के विवेचन से यह तो सुस्पष्टन कहा ही जा सकता है कि 'ख' प्रति की अपेक्षा 'क' प्रति लिपि की सुस्पष्टता, सुवाच्यता तथा शुद्धता की दृष्टि से अधिक मान्य है एव प्राचीनता तथा सुमङ्गत अधिकपाठोपलब्धि की दृष्टि से भी क. प्रति की सुग्राह्यता स्वत स्पष्ट है । यही कारण है कि हमने इसी प्रति का पाठ आदर्शरूप मे प्रस्तुत कर 'ख' प्रति के पाठान्तरों को पाद-टिप्पणी के रूप मे नीचे उद्धृत किया है । हाँ, जहाँ दोनो ही प्रतियो के पाठ हमे अशुद्ध प्रतीत हुए हैं वहाँ शुद्ध पाठ ऊपर में देकर नीचे क. ख. प्रतियो के पाठ अङ्कित किये गये है । इसी प्रकार यदि ख प्रति का पाठ क. प्रति से उपयुक्त प्रतीत हुआ है तो उसे ऊपर और क. प्रति का पाठ नीचे पादटिप्पणियो मे अविकल रूप से उद्धृत कर दिया गया है । किन्तु, जैसा कि ऊपर सङ्केत किया गया है कि जिन अक्षरो का निर्णय करना पाठक की सन्दर्भानुसार बुद्धि एव विवेक पर निर्भर करता है, ऐसी स्थिति वाले पाठान्तरो को अधिकतर लिपिकर्ता की स्वाभाविक लिपि समझकर बाहुल्यभय मे यहाँ पर स्थान देना समुचित नहीं समझा गया है ।



आभारदर्शन—

अन्त मे इस कार्य की सम्पन्नता के लिये अनेक विद्वानो को धन्यवाद देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० फतहसिंह ने मुझे यह काम सौंपने की कृपा की थी। समय-समय पर इसके बारे में पूछते भी रहे। प्रेस कॉपी तैयार करने मे श्रीगणेशीलाल सुथार से मुझे सहायता मिली जिसके लिये वे धन्यवादार्ह हैं। श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी ने प्रतियो के शुद्ध पाठ के विषय मे मेरे से विमर्श किया है। रीवां-नरेश श्रीमार्त्तण्डसिंहजी ने 'सङ्गीतरघुनन्दन' के रचयिता अपने पूर्वज श्रीविश्वनाथसिंहजी के विषय मे कुछ सूचनाएँ दी हैं। उनके लिए भी मैं कृतज्ञ हूँ। प्रतिष्ठान ने इस ग्रन्थ की हस्त-लिखित प्रतियाँ मुझे दी। अन्य प्रकार से भी उसके अधिकारियो से मुझे अच्छा सहयोग मिला है। प्रतिष्ठान के प्रथम निदेशक पुरातत्वाचार्य मुनि श्रीजिन-विजयजी को हम विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं जिनके प्रयत्न से मागधी, अर्धमागधी, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और राजस्थानी का यह सुन्दर सग्रह यहाँ एकत्रित हुआ है।

आशा है कि सभी काव्य एव सगीतप्रेमी विज्ञजन इस मुद्रित प्रति मे प्रेस-दोष एव दृष्टिदोषवश रही हुई त्रुटियो को 'समादधति सज्जनाः' की दृष्टि से सुधारते हुए प्रस्तुत काव्यरस का आनन्द उठाएगे।

दशरथ शर्मा

१७ सितम्बर, १९७३
राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान,
जोधपुर

सर्गात्मक समालोचन

संस्कृतग्रन्थो मे महाराजा विश्वनाथसिंह द्वारा विरचित 'संगीतरघुनन्दन' काव्य की प्रेरणा संभवतः गीतगोविन्द से मिली हो। कवि ने १६ सर्गो मे इस रामकाव्य की सर्जना की है। इस काव्य के सभी सर्ग विस्तार की दृष्टि से समान नही हैं। कुछ लघुकाय हैं, तो कुछ दीर्घकाय भी। जिस प्रकार कवि द्वारा विरचित 'आनन्दरामायण' नामक नाटक रामभक्ति के रसिक साहित्य का एक रत्न है, उसी प्रकार 'संगीतरघुनंदन' भी।

कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे 'श्रीमते रामानुजाय नमः' इस नमस्कारोक्ति के पश्चात् ७ श्लोको में श्रीराम, निमिराजपुत्री एवं रासेश्वरी सीता, भगवती शारदा, गणनायक, गुरु श्रीप्रियादास एवं भगवान् शंकर की क्रमशः वन्दना प्रस्तुत की है। यद्यपि काव्यप्रकाश मे उत्तम—मध्यम—अधम भेद से काव्य के ३ भेद किये गए है; और इन से तथा अन्य अनेक काव्यों से रचयिता परिचित है, तो भी इस काव्य को उन्होने परमोत्तम माना है। इस सम्बन्ध मे कवि का कहना है कि—

'तथाप्यत्र प्रतिश्लोक ध्वनिभिर्ध्वनीनामुद्भवात् परमोत्तमत्वमिति'।[1]

अर्थात् इस काव्य के प्रत्येक श्लोक मे ध्वनियो के द्वारा अन्य अनेक ध्वनियो का उद्भव होता है अतः यह काव्य परमोत्तम है। इसकी सम्पुष्टि मे 'अलङ्कार-कौस्तुभ' का लक्षण भी प्रस्तुत किया है—

'ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमत्वम्' इति।[2]

इसके लिए दो कारण है, एक तो काव्य का विषय और दूसरा कवि की यह मान्यता कि यह काव्य भगवान् की ही कृति है। वे कहते है—

"मन्दस्य मम कथमीदृशग्रन्थकरणसामर्थ्यं, रघुनन्दन एव मदन्तः प्रविश्य निज चरितमुच्चरितवान् अतस्तत्कृतस्य ग्रन्थस्य प्रशंसा कृता।[3]

---

१. संगीतरघुनन्दन—व्याख्या, पृष्ठ २। २ संगीतरघुनन्दन—व्याख्या, पृष्ठ २।
३. संगीतरघुनन्दन—व्याख्या, पृष्ठ ३।



अर्थात् मुझ मन्द मे ऐसे ग्रन्थ की रचना की शक्ति कहाँ ? स्वयं भगवान् राम ने ही मेरे अन्त.करण मे प्रवेश कर अपने चरित का उच्चारण किया है। अतः उनके द्वारा रचित ग्रन्थ राम के प्रति समर्पण की अतिशयता का सूचक है और साथ ही यह आत्मश्लाघा के विषय मे उत्थापित शङ्का को भी निरस्त कर देता है ।

प्रथम सर्ग एक प्रकार से मगलाचरण-मात्र है। इस सर्ग मे कही अवधेश राम की स्तुति है, तो कही रासेश्वरी सीता के प्रति निवेदन । कही भगवान् शकर की वन्दना है, तो कही विघ्नविनाशन गणनायक की। कही गुरुवर के चरणो मे प्रणति है, तो कही भगवती शारदा की सस्तुति प्रस्तुत है। श्रीरामचरितवर्णन मे अनेकशः विघ्नविनाशक होने के कारण महावीर हनुमान् की स्तुति करना भी नितान्त उचित समझा गया है । इसके पश्चात् कवि ने मीनसुरूप, कमठसुरूप, शूकररूप, नरहरिरूप, वामनरूप, कपिलसुरूप, हलधर-रूप, कृष्णसुरूप, तापसरूप, वरहरिरूप, भृगुवररूप, मोहिनीरूप, बुद्धसुरूप, कल्किसुरूप, वैद्यसुरूप, यज्ञसुरूप, हयगलसुरूप, पृथुनृपरूप, ऋषभरूप, नारदरूप, शुकपितृरूप, हससुरूप, वालसुरूप, इत्यादि विविध दीनोद्धारक रूपो मे राम की अत्यन्त श्रद्धापूर्वक स्तुति प्रस्तुत कर अपने काव्य की सफलता एव प्रेमलक्षणा भक्ति के वरदान की प्राप्ति के लिए मगलाचरण किया है। कवि ने स्वोपज्ञ 'व्यग्यार्थचन्द्रिका' मे यह भी उद्घोषित किया है कि इनके अतिरिक्त जो अन्य अवशिष्ट अवतार है, उनको राम ने ग्रहण कर इस भूतल के विभिन्न विघ्नो का विनाश किया है। उपर्युक्त विभिन्न अवतारो के रूप मे राम के वर्णन का कवि ने पद्मपुराण, वाल्मीकीय रामायण, शिवसहिता आदि शास्त्रो के उद्धरणो द्वारा समर्थन भी किया है। इतना ही नही, 'देवानां पूरयोध्या' इत्यादिक श्रुति को भी उद्धृत किया है। इस प्रकार कवि ने अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा के बल से राम की विविध प्रकार से स्तुति कर राम के प्रति अपनी अनन्य भक्ति को प्रदर्शित किया है ।

काव्य का वास्तविक आरम्भ तो दूसरे सर्ग से है जैसा कि कवि ने स्वय द्वितीय सर्ग की टीका के प्रारम्भ मे लिखा है—

"एव मगलाचरण विधाय सगीतरघुनन्दन काव्य प्रकटयति ।"

अर्थात्—इस प्रकार मगलाचरण का विधान कर सगीतरघुनन्दन-काव्य

को प्रकट करता है । इस सर्ग मे रामरासक्रीडा का वर्णन करते समय कवि ने 'गीतगोविन्द' का अनुसरण कर अनुप्रासच्छटा का भी प्रदर्शन किया है । यथा—

मलयजलेपितललितकलेवरवलितवेणुवनमाली ।
चलदलकालिविलोकनपुलकितसकलालीगणशाली ॥७॥

इसी प्रकार गीतगोविन्द की उत्कृष्ट अनुप्रासच्छटा अवलोकनीय है—

ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे ।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ॥

गीतगोविन्द मे सर्वत्र अनुप्रासच्छटा में कोमलकान्तपदावली प्रयुक्त हुई है, परन्तु सगीतरघुनदन मे अनुप्रासच्छटा की उतनी उत्कृष्टता नही है ।

कीरकेकिकोकिलकोलाहलऋतुकुलललितविलासे ।
कुरवकवकुलकेतकीकरवकुन्दकदम्बविकासे ॥२॥

यद्यपि गीतगोविन्द की-सी अनुप्रासच्छटा की मधुरिमा एव कोमलकान्त पदावली यहाँ नही है, तो भी रासलीला मे तल्लीन सखियो की सम्मिलित मधुर गानध्वनि को इन विविध उपवन-पक्षियो के समस्वर के समान वर्णित करना सुमनोज्ञ कल्पना है । सीतारामसहित रासलीला करती हुई सखियों की विविध रासक्रीडाओ को भी सुन्दर रूप मे उपस्थित किया है—

गायति काचन नृत्यति काचन,
रमयति काचन रामम् ।
काऽपि च नृत्यति काऽपि च घटयति,
काऽपि च पश्यति कामम् ॥४॥

वस्तुतः इस सर्ग का वर्णन पाठक के समक्ष रासक्रीडा का शब्दचित्र-सा उपस्थित कर देता है ।

तृतीय सर्ग में वसन्तरास का वर्णन किया गया है । इस सर्ग मे 'होलाखेला' शब्द के लिए प्रचलित लौकिक शब्द 'होली' का 'होरीति लोकप्रसिद्धा' द्वारा निर्देश किया गया है । इसी प्रकार साभ्रकारुण चूर्ण एव नारगफलाकार लाक्षापात्र के लिए प्रचलित लौकिक शब्द अबीर और 'कुमकुम' क्रमश. प्रयुक्त किये गये हैं । उन्नीसवी शताब्दी की होली का यह अच्छा सजीव वर्णन है ।

चतुर्थ सर्ग में सीता के समाधिस्थ होकर रासविलास का आनन्द

लेने के लिए अन्तर्हित होने पर सीता के विरह मे राम की करुण स्थिति का अत्यन्त हृदयहारी चित्रण प्रस्तुत है ।

रासविलाससमाधिसुखाय समन्तरधाददस्मिन्किल काले ।
प्रललापेह पतिः प्राणप्रियतमे ! गता भवती क्व नु बाले ।।२।।

तव मुखनलिननिरीक्षणरहितो नयनमधुकरो मुद न लभते,
अनलमलयानिलो गले मम माल्यं व्यालसाम्यमारभते ।।३।।

कवि ने विप्रलम्भ शृ गार के चित्रण मे अपनी काव्यकला का प्रदर्शन किया है । भगवान् राम के लिए हिमांशु चन्द्रमा अति शीतल एव मन्द होने पर भी दिवसदीप सूर्य की तरह देहदाहक बन गया है । मल्ली, वल्ली, वासन्ती आदि लताओ के वृक्षो के साथ सानन्द श्लिष्ट होने पर भी सीता के अन्तर्धान के कारण राम को अन्तर्वह्नि पीडित करती है । सीता के नेत्रो के समान मनोरम कमल राम के लिए 'हृदयखनित्र' बन गया है । ऐसी विरहपीडितावस्था मे राम सीता के प्रति करुण निवेदन करते है—

'मिल मिल मैथिलि ! मामव मित्रम्' ।।६।।

इस प्रकार सीता के अन्तर्धान से सम्बद्ध होने के कारण इस सर्ग का 'जानक्यन्तर्धान' नामकरण उचित है ।

पञ्चम सर्ग मे सीता की शाटी (साडी), कचपाश आदि का अत्यन्त मनोरम वर्णन किया गया है । इसी प्रसग मे सीता के भाल पर शोभायमान नीलमणि की छविच्छटा का वर्णन कितना सुरम्य बन पडा है—

प्रभापुञ्जपरिभासितभाले लसति नीलमणिराजः ।
अर्द्धचन्द्रसिंहासनगत इव रसराजो विसमाज. ।।३।।

इस सर्ग में कामा और वसन्तिका सीता को लौटा लेने का प्रयत्न करती है । कवि की काव्यशैली के निरीक्षण के लिए सरलतम, किन्तु चित्ताकर्षक भाषा मे प्रस्तुत दो-तीन श्लोको को उद्धृत करना उचित होगा—

परमहसपरजनको जनकः सर्वसहैव जननी ।
रसधायकरघुनायकनायकप्राणसमा या रमणी ।।२।।

तस्या भाति नवीनं चरित मच्चित्तेऽपि विचित्रम् ।
मिल मिल मनोमोहन मोहिनि ! जहि जहि मानममित्रम् ।।३।।

मा कुरु मुनिमनन मम वचनं मानय मानय धीरे ।
विश्वनाथनाथ रघुनाथं कुरु कुरु करे गभीरे ॥४॥

पञ्चम सर्ग का नामकरण 'कामा-वसन्तिकागमन' उपयुक्त है ।

'चारुशीलाकृतमनुनयन' शीर्षक इसी प्रकार **षष्ठ सर्ग** के विषय का निर्देश करता है । इसके कतिपय अवलोकनीय उदाहरण प्रस्तुत है—

त विना न सुख तवाऽपि न चाऽन्यथा तव चिन्तनम् ।
विश्वनाथसुनाथचरित वर्णित कलिकृन्तनम् ॥४॥

प्रस्तुत सर्ग मे कवि ने सूक्तिरूप मे भी श्लोक निबद्ध किये हैं । यथा—

सेवयैव प्रसाद्यते कविता लता वनिता धनी ।
विश्वनाथसुनाथमिति वद गच्छ सम्मतिसाधनी ॥२॥

इस काव्य मे यत्र-तत्र कवि के लिए 'राजा बहादुर' एव रामचन्द्रकृपापात्रा-धिकारी' शब्दो का भी प्रयोग किया है । इनमे पहली पक्ति कवि की राजपदवी है और दूसरी भगवान् रामचन्द्रपरक है ।

'जानकीसमागम' नामक **सप्तम सर्ग** मे कवि ने राम द्वारा मानिनी सीता के प्रति विविध निवेदनपूर्ण वचन कहलाए हैं । राम सीता को मानवि-मोचन कर वचनामृतो से परिषेचन के लिए निवेदन करते है—

मानमवमुञ्च परिषिञ्च वचनामृतै-
रिति वदन्हरिरवतु विश्वनाथम् ॥४॥

पुनश्च—

वाञ्छितदे कलगीते सीते,
तव श्रृंगारविधावभिलाष पूरय मयाऽनुगीते ॥१॥

अष्टम सर्ग मे कवि ने सीता द्वारा शरीर पर धारण किये जाने वाले विविध आभूषणो की छटा का सुरम्य निरूपण किया है ।

'दोलावर्णन' नामक **नवम सर्ग** मे दोलान्दोलन का वर्णन भी निखर उठा है—

लसति श्रीरघुनन्दनदोला सुतरां लोला ।
शृङ्गाररचिमरकतमणिप्राकारसुषमामण्डिता ।
आदर्शसममणिमेदिनीप्रतिबिम्बवृन्दालम्बिता ॥२॥

दशम सर्ग मे पृथक् पृथक् श्लोको मे सीता के प्रत्येक अग का सुन्दर उपमानो के साथ वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अतः इस सर्ग का 'सर्वांगशोभावर्णन' नाम भी उचित प्रतीत होता है । कवि की सरस, सरल एवं प्रसादमयी शैली में निम्नलिखित प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण अवलोकनीय है—

चल दयिते वरसरयूतटमनुभाति ।
पिकरमणी शिखिरमणी यत्र च याति ॥१॥

नितान्तमीक्षणेक्षणे क्षणे क्षणे विलक्षणा ।
अतुच्छगुच्छकक्षवृक्षलक्षलक्ष्यलक्षणा ॥२॥

इस सर्ग मे कवि ने 'वारी' अर्थात् 'वाडी' के लिए 'पालिनी' एव 'पायजामा' के लिए 'अध कञ्चुक' शब्दो का प्रयोग किया है । इसी प्रकार अन्यत्र भी 'काछनी' एव 'जामा' आदि वस्त्रो के लिए क्रमश 'कटिवन्धन' एव 'अरुण-कञ्चुक' शब्दो को प्रयुक्त किया है । सीता का सर्वांगवर्णन अतीव सुमनोहर वन पडा है । वास्तव मे, 'यथा नाम तथा गुणः' इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत सर्ग का नाम सार्थक है । प्रत्येक अग का वर्णन सहज, स्वाभाविक विशेषणो द्वारा प्रस्तुत किया गया है । यथा—सीता की नासिका शुकतुण्ड का भी अतिक्रमण कर जाती है—

नासिका नागमणिसहिता,
सफलशुकतुण्डजयविहता ॥१७॥

अपि च, सीता की स्मितमरीचि सुधानिधि की तरंग को विनिन्दित कर देती है। उसका चारु चिवुकतल लघु रसालफल की सुषमा से भी वढकर सुन्दर है । उपरि प्रस्तुत श्लोक जैसे ३४ लघुकाय श्लोको में सारे अगो व आभूषणो का हृदयहारी वर्णन किया गया है ।

एकादश सर्ग मे जानकी एव रघुनन्दन के गीत व नृत्य का वर्णन किया गया है । इस सर्ग के प्रारम्भ मे ताम्बूलपेटी, मणिपतद्ग्राह, आतपत्र, प्रासून

स्नेहपात्र, स्वर्णपात्र आदि विभिन्न पात्रो को धारण करती हुई सखियों का चित्रण किया गया है । तदनन्तर सीता के चारुचमत्कारपूर्ण नृत्य का उल्लेख किया गया है । यथा—

पदयुगलेन लिखति शिखिकरिणौ लघु नृत्यन्ती भावगामिनी ।
सुचमत्कृतियतिगतिचलचित्ता चिबुक चुम्बति चारुकामिनी ।।२।।

अपि च, राम के चित्ताकर्षक रास का अवलोकन कीजिए—

नीराजयति मुकुटरुचिराजिभिरालामाननचन्द्रम् ।
करचलनेन चालयति चेत. पदगतेन क मन्दम् ।।२।।

वस्तुत सखियों के साथ सीता व राम के सगीतपूर्ण रास का अति मनोरम चित्रण किया गया है ।

द्वादश सर्ग मे राम के विरह का मार्मिक वर्णन किया गया है । राम के अन्तर्हित हो जाने पर 'व्याकुलास्ता विचेरु.' अर्थात् सीतासहित सखियाँ मार्ग-मार्ग मे राम को आकुलता से ढूँढती फिरती है । अशोकादि कामोद्दीपक पुष्पो को सम्बोधन करती हुई सखियो एव सीता की विरहपीडितावस्था का अत्यन्त करुण चित्रण भी द्रष्टव्य है—

प्रमोदवनकुञ्जेषु मृगयन्त्यो रघूद्वहम् ।
मार्गे मार्गे रमण्यस्ताः पृच्छन्ति स्म लतातरून् ।।२।।

मन्मथबाणमथितमुद्व्यथित खलु मे हृदयं,
कलयाऽशोकमशोक ! ।

शरणमितं वनितामण्डलमिह रक्षसि किं न स्तोक,
अहह बत रक्षसि किं न स्तोक ! ।।१।।

कुसुमनखेन विदीर्णं बहुशो भवता हृदय,
खिद्यति विगतत्रास ! ।
रहितत्रपं कानने विलससि, विरहिपलाश पलाश ! ।।२।।

विश्वनाथचलनाथविरहित चलदल हृदय,
भूषितविटपिसमाज ! ।
प्रिय निवेदय तव वनलीन पाहि पाहि तरुराज ! ।।४।।



मिल नाथ अए !
हा हा नयनाञ्जन तापविभञ्जन रमणीरञ्जन ! तव विरहे।
सम्भवति कराला ज्वलनज्वाला सुमनोमाला किमु विषहे ॥१॥

यन्मुखचन्द्रचकोरी नयने ते सततम् ।
सा सहते तव विरहमहो निर्दय ! विततम् ॥३॥

गतविग्रहवर्णा च्युतमुखवर्णाऽतिवधिरकर्णा तव प्रिया ।
न रसायनरक्ष्या धिक्कृतभक्ष्या त्वयैव लक्ष्या गतक्रिया ॥५॥

अवितप्रेमाकर दीनदयाकर ! हृदयशया स्मर भूमिशयाम् ।
अलमधिकविरत्या त्वमिहाऽऽगत्याऽनुपरतगत्या तनुहि दयाम् ॥१०॥

त्रयोदश सर्ग मे अन्तर्हित राम के विरह से विह्वल सखीसमूह की राम के प्रादुर्भाव के कारण आनन्दातिरेकमयी स्थिति का सुरम्य चित्रण हुआ है । राम के दर्शनानन्द से उन सखियो के अग इतने खिल उठे हैं कि विरहकाल में जिनसे कृशता के कारण आभूषण परिच्युत हो गये थे, उन्ही पर अब वे आभूषण यत्नपूर्वक धारण करने पर भी शोभित नही होते । यथा—

या वियोगकृशतापरिच्युता भूषणालिर्निखिलाङ्गके पुन ।
न स्म भाति परमोदमासले यत्नतोऽपि परिधारिता मुहु ॥३॥

रघुनदन के आने पर सखियो की विभिन्न चेष्टाओ का वर्णन भी अवलोकनीय है—

काऽपि चुचुम्ब सुरुचिर चिबुक चन्द्रमुखी ।
काचिदुवाच दैवदोषो मे त्वमकलुषी ॥१॥

काचित्परिरेभे पटुरमण मोदवती ।
काचिदबध्नान्निजपतिवसने भीतिमती ॥२॥

काऽपि वीणया जगौ रमणगुणमतिह्लादम् ।
अकृत भृकुटितर्ज्जन काचन पतिभीदम् ॥३॥

काचिदासनेऽवदन्निषीद प्रिय ससुखम् ।
विश्वनाथनाथोऽसि कथय नः किं कलुषम् ॥४॥

अन्तर्धान का कारण बतलाते हुए राम कहते हैं कि पहले सीता ही अन्तर्हित हुई थी, अत उसे अन्तर्धानजनित विरहपीडा का सवेदन करवाने के लिए वे भी अन्तर्हित हो गये । अन्तत प्रिय के अपराधकथन का अनौचित्य बतलाते हुए



राम अपने-अपने अपराध की भी गुणपक्ष मे गणना करने के लिए यह कह कर सरयू नदी की रमणीयता की ओर जानकी का ध्यानाकर्षण करते हैं:—

प्रिये पश्य सरयूरिह विलसति कोमलशैवलकमला ।
ललितकाकलीकलितखगालीसकुलालिकुलकमला ।।१।।

सरयूनदी की रमणीयता के बोधक अन्य श्लोक भी प्रस्तुत हैं:—

कुमुदवृन्दमकरन्दविशदबहुबिन्दुचारुचन्द्रकिता ।
अनिलसमाकुलकूललताकुलकुसुमावलिपरिकलिता ।।२।।

तव नाभीसुषमानुकरणकरललितावर्त्तविशाला ।
विश्वनाथमानसपरिषेवितसुमणितीर्थरुचिशाला ।।३।।

सरयू के आवर्त्तो की सीता की नाभि से समता प्रस्तुत कर उनकी लघुता और गम्भीरता को व्यक्त किया गया है । 'सुमणितीर्थरुचिशाला' इस पद से नदी के दोनो किनारो पर मणिजटित शिलाखण्डो की सुषमा की अभिव्यक्ति की गई है, अत एव रात्रि मे तटो पर विहरण की अयोग्यता भी स्वतः अभिव्यक्त है ।

'सरयूतटविहारवर्णन' नामक चतुर्दश सर्ग अत्यन्त सक्षिप्त है । सखी-समुदाय के साथ राम जिस समय सरयू नदी मे अवगाहन करने के लिए चलते हैं, तो उसका वर्णन करते हुए कवि कहते है.—

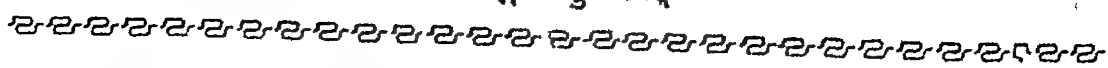
सहचरीसमुदायसमन्वित. शयसरोजगृहीतधरासुतः ।
सुखदसारववारि विगाहितुम् प्रचलति स्म ततो रघुनन्दन ।।१।।

पुनश्च—

सरयूजले जानकीजानि,
विहरति रमणीगणकृतरतिरिह,
सवधुसिंधुरुचिहानिः ।।१।।

जलावगाहनक्रीडा का कोई विस्तृत वर्णन प्रस्तुत नही किया गया है । सखियो से परितः आवृत राम की शोभा ४-५ श्लोको मे निरूपित है । यथा—

कुण्डल-भ्रम-ललनालिमण्डितो घन इव चपलामाल. ।
विश्वनाथनाथोऽतिकौतुक कुरुते परमविशाल ।।४।।



पन्द्रहवां सर्ग स्नान के पश्चात् सीतासहित राम के आगमन से प्रारम्भ होता है—

> उत्थाय रामो जनकात्मजाया पाणि गृहीत्वा परमादरेण ।
> शुभ्राऽऽतपत्रेण विरोचमानो निकेतन-प्रांगणमाजगाम ।।२।।

तत्पश्चात् स्वर्णमयी वेदिका से युक्त, वह्निमण्डल, सूर्यमण्डल एव चन्द्रमण्डल की शोभा से युक्त परम सुन्दर आगार का निरूपण किया गया है, जहाँ राम सदैव रासविधान मे तल्लीन रहते हैं—

> अथ निजपरमागारे विकसित-कमलालयाकारे ।
> रामो रासविधान मुदा सखीभिः समातनुते ।।१।।

प्रमुख सखियो का नामोल्लेख करते हुए कवि कहते हैं कि इसके पश्चात् सौ सखियो का मण्डल, उसके परित दशशत सखिमण्डल, इस प्रकार लाख, दश लाख और करोडो की सख्या मे सखियाँ दिग्विदिक् मे विद्यमान हैं। अर्थात् इस रासविधान मे राम करोडो सखियो द्वारा कुण्डलित हैं, परावृत है। इस सर्ग में न केवल प्रमुख सखियो का नामनिर्देश किया गया है, प्रत्युत उनकी कुण्डलाकार स्थिति का भी निरूपण प्रस्तुत है; अत एव प्रकृत सर्ग का 'सखी-स्थिति और सख्यावर्णन', जो यह नामकरण किया गया है, वह उचित ही है।

अन्तिम सर्ग १६वे मे कवि ने इस ग्रन्थ के माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए 'अतिदुस्तरदु खाकरभवसागरतारिन्' 'अमलयश प्रसारिन्' 'भूतिविवर्द्धन' आदि विभिन्न समासबहुल विशेषणपदो द्वारा राम के चरणकमलो मे प्रणति समर्पित करते हुए अधोलिखित मनोवाञ्छा के साथ इस काव्य की इतिश्री की है—

> एषा माधुर्यधारा धरणितलगता विश्वनाथप्रचारा,
> भास्वत्सन्तानतारा परिवृढविशदध्यानसन्धानसारा ।
> पापौघोदचदाराभवजलधिसमुत्तारणे नौरुदारा,
> शृङ्गारैकप्रसारा जयति परगुणग्राहकस्वान्तकारा ।।

सगीतरघुनन्दन का प्रेरणास्रोत—इस काव्य के प्रेरणास्रोत के विषय मे जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' का प्रारम्भ मे भी उल्लेख किया गया है। प्रधान रूप से

इस कृति का प्रेरणास्रोत गीतगोविन्द रहा है और इस तथ्य को परिपुष्ट करने वाले प्रबल प्रमाण भी विद्यमान हैं। हो सकता है कि गौणरूप से कवि ने अन्य कृतियो से भी यत्किञ्चित् प्रेरणा ग्रहण की होगी। काव्यचारुत्व एव कविकर्म-कुशलता की दृष्टि से इस काव्य को हम गीतगोविन्द की समकक्ष कोटि मे नही रख सकते, तथापि इसे सर्वथा अनुकृति भी नही कह सकते, क्योकि कवि ने यत्र-तत्र अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का भी प्रदर्शन किया है। एक उत्कृष्ट काव्य का अनुकरण करना एव उससे प्रेरणा ग्रहण करना काव्यजगत् मे स्वाभाविक है। यह कोई दूषण नही है। हा, यदि अबुद्धिमत्ता के साथ अन्धानुकरण किया जाता है, तो वह दूषण अवश्य है। अन्यथा, पूर्ववर्त्ती श्रेष्ठकाव्य परवर्त्ती काव्यों के लिए प्रेरणास्रोत होते ही है।

जिस प्रकार जयदेव ने कृष्णरासक्रीडापरक उपकाव्य की रचना की है, उसी प्रकार कवि विश्वनाथसिंह ने रामरासक्रीडापरक संगीतरघुनन्दन की सर्जना की है। गीतगोविन्द के प्रेरणास्रोत होने की प्रामाणिकता इस काव्य के प्रथम सर्ग मे ही सिद्ध हो जाती है, जहाँ कविवर विश्वनाथसिह जयदेव की पद्धति का अनुसरण करते हुए अष्टपदियो द्वारा श्रीराम की स्तुति करते हैं। अपि च, काव्य का नामकरण भी 'गीतगोविन्द' के आधार पर किया गया है। 'गीत' के स्थान पर सगीत कर दिया गया है और गोविन्द के स्थान पर रघुनन्दन कर दिया गया है, जो कि विषयभेद की दृष्टि से सर्वथा आवश्यक है। 'सगीत-रघुनन्दन' की अष्टपदियो मे 'गीतगोविन्द' के अनुकरणसाम्य के कतिपय स्थल अवलोकनीय हैं—

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम्,
विहितवहित्रचरित्रमखेदम्,
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे॥ ध्रुवम् ॥१॥

(गीतगोविन्द)

इसी प्रकार 'सगीतरघुनन्दन' मे भी—

नृपबोधदवेदक्षितिपालनकारी,
प्रलयपयोधिसलिल-संचारी,
श्रीरघुवर मीनसुरूप जय जगदीश पते ॥१॥

(सगीतरघु०)



पुनश्च—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना,
शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना,
केशव धृतशूकररूप जय जगदीश हरे ॥३॥ (गीतगोविन्द)
रदशिखरे धरणी तव लसति विशाला,
गिरिशगिरा विवघन घनमाला,
श्रीरघुवर शूकररूप जय ॥३॥ (सगीतरघुनन्दन)

और भी—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यान्दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षय कुर्वते ।
पौलस्त्य जयते हल कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्य नम ॥
(गीतगोविन्द)

इसी प्रकार सगीतरघुनन्दन मे भी राम की विविध लीलाओ से सम्बन्धित उदाहरण देखिए—

मीनाद्या दधते तनूर्दलयते दैत्यान् सतो रक्षते,
धर्मानाचरते स्मृती रचयतेऽधर्म निराकुर्वते ।
भक्तान् भावयते यशो जनयते बाणान् धनुर्बिभ्रते,
साकेतप्रमदावने विहरते रामाय तुभ्य नम ॥१०॥

गीतगोविन्द के इस सर्ग मे अष्टपदियो द्वारा कवि ने जिस क्रम से कृष्ण के विभिन्न रूपो का वर्णन किया है, कवि विश्वनाथसिंह ने भी सगीतरघुनन्दन में राम के उन रूपो का वर्णन उसी क्रम से प्रस्तुत किया है । किन्तु, विश्वनाथसिंह इतने रूपो से संतुष्ट न रहकर आगे राम के कुछ और रूपो का भी निरूपण करते हैं, जो कवि की मौलिकता का परिचायक है । गीतगोविन्द के आधार पर कवि ने श्रीराम के स्वरूप का ध्रुवपदो द्वारा भी निरूपण किया है ।

द्वितीय सर्ग मे भी जयदेव की काव्य-कला के साम्य के उदाहरण प्राप्य है ।

काऽपि विलासविलोलविलोचनखेलनजनितमनोजम्,
काऽपि कपोलतले मिलिता लपितु किमपि श्रुतिमूले ।
श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम् ॥
(गीतगोविन्द)

सगीतरघुनन्दन मे भी इसी तरह के उदाहरण हैं ।

गायति काचन नृत्यति काचन रमयति काचन रामम् ।
कापि च नृत्यति कापि च घटयति कापि च पटयति कामम् ।।

इतना होने पर भी रामसम्बन्धी रसिक काव्यो की परम्परा मे कवि विश्वनाथसिंह की विशिष्ट देन है । कृष्णरासक्रीडापरक काव्यो की सुलभता एव अनुकूलता सब को ग्राह्य है, परन्तु रामरासक्रीडापरक काव्यो का स्वरूप इतना विकसित व सर्वजनज्ञात नही है, क्योकि राम का मर्यादापुरुषोत्तम के रूप मे ही प्रायशः चित्रण हुआ है । कृष्णसाहित्य की इस परम्परा का रामसाहित्य मे भी निर्वाह करना कवि विश्वनाथ की अमूल्य देन है । कवि ने जयदेव के गीतगोविन्द से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी मौलिकता के द्वारा गीतगोविन्द की अपेक्षा इसे विस्तृत रूप दिया है अर्थात् सर्गो की संख्या अधिक है और कुछ सर्ग गीतगोविन्द की अपेक्षा नूतन भी हैं ।

जहाँ तक साहित्यिक कसौटी का प्रश्न है सब काव्य समकक्ष नही हो सकते, तथापि रामसाहित्य की मर्यादापुरुषोत्तम के रूप मे परम्परा के घन-पटल मे रसिकशिरोमणि के रूप मे परम्परा की विद्युत् उसकी शोभाधायक ही है । काव्य मे रामसाहित्य के एक अविकसित स्वरूप के विकास मे योगदान है, अतः यह दूषण न होकर भूषण ही है ।

काव्यविधा:—गीतगोविन्द के अवलोकन से इस काव्य की विधा का प्रश्न भी हल हो जाता है । अन्यथा विभ्रम की सी स्थिति हो जाती है कि यह महाकाव्य है या खण्डकाव्य, गीतिकाव्य है या दण्डक । वस्तुत यह न तो महाकाव्य है और न खण्डकाव्य, न यह गीतिकाव्य है और न अन्य ही, अपितु गीतगोविन्द की भाँति यह भी एक 'उपकाव्य' है ।

अलङ्कारप्रयोग:—इस काव्य में प्रयुक्त विभिन्न अलङ्कारो के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं । प्रस्तुत काव्य में प्रयुक्त विविध अलङ्कारो के कारण कवि विश्वनाथसिंह के काव्यशास्त्रविषयक पाण्डित्य का आभास प्राप्त होता है । वस्तुस्थिति यह है कि प्रस्तुत कृति के आलोचन से विश्वनाथसिंह मे कविजनोचित सहज प्रतिभा के साथ अलङ्कारशास्त्र का पाण्डित्य अधिकमात्रा मे प्रतीत होता है । शब्दकोश की दृष्टि से वे धनपति कुवेर के समान अक्षय्य निधि-वाले हैं । इनके द्वारा प्रतिसर्ग मे प्रयुक्त नूतन समृद्ध शब्दावली उनके श्रमसाध्य

गहन पाण्डित्य की परिचायिका है। प्रस्तुत काव्य मे कवि द्वारा उपमा, रूपक, सहोक्ति-तद्गुण, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, सन्देह, काव्यलिङ्ग, श्लेपानुप्राणित रूपक आदि विभिन्न अलङ्कारो का प्रयोग किया गया है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१ उपमा—

"प्रस्फुट सुन्दर साम्यमुपमेत्यभिधीयते"।

उदाहरण— प्रचुरवरागपूरपरिपूरितकटिमितसलिलसुललिता।
मिलितमीनमीनाककेतुसमतुंगतरगलरलिता ॥

२ रूपक—

तद्रूपकमभेदोय उपमानोपमेययोः।

उदाहरण— हरिचन्दनघनसारस्पर्शो विरहशिखी।
दहति रश्मिभिस्तनुं दिनेशश्चन्द्रमिषो ॥ (दशम सर्ग)

३. सहोक्ति-अलङ्कार—

सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेक द्विवाचकम्।

उदाहरण— रघुनन्दनगुणगानाद्भुतप्रभाव जनकपुत्रीं च।
युगपद्विलोक्य ससुख वसन्तिका सजगादेदम् ॥ (५ सर्ग)

४ काव्यलिङ्ग—

काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।

यथा— कापि मेघरमणीयरागतो वर्षात्व दर्शयते।
नायकनयननवीनघनेन च सुखनीर वर्षयते ॥५॥

५ प्रतीपालङ्कार—

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिवन्धना ॥

यथा— दम्पतिच्छविसम्पतिवलितविभोत्पत्तिसुखेक्षणम्।
उत्तुंगतरलतरङ्गयुतगङ्गादिजलधिविलक्षणम् ॥ (नवम सर्ग)
बहुरङ्गमणिमयहसकीरककपोतपोतकशोभिता।
सङ्कुलितकल्पलतादिरचना विवुधवनवद्द्योतिता ॥

६. उत्प्रेक्षा—

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

यथा— वरतारतोरणवलितवरणद्वारवारविमोचिता ।
मणिजटितहाटकमयकपाटोदारदीप्तिसमञ्चिता ।।३।।

समग्रतया, कविवर विश्वनाथसिंह की प्रतिभा बहुमुखी है, यह उनकी विविध रचनाओ से ही प्रमाणित हो जाता है। कवि ने अपनी प्रतिभा द्वारा हिन्दी व सस्कृत दोनो साहित्यिक क्षेत्रों मे विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। कवि विश्वनाथसिंह के साहित्यिक क्षेत्र मे दो रूप है—एक कवि और दूसरा टीकाकार। इनके द्वारा रचित टीकाग्रन्थो की भूयसी सख्या है। संगीतरघुनन्दन काव्य मे कविवर अपने दोनो रूपो मे उपस्थित होते है। सगीतरघुनन्दन के मूलभाग के साथ-साथ कवि ने व्यग्यार्थचन्द्रिका-नामक टीका द्वारा अपने प्रतिपाद्य को विशदरूपेण स्पष्ट कर पाठक की कल्पना के लिए अवकाश कम कर दिया है। सस्कृतसाहित्य मे ऐसे कविवर विरले एव अगुलिगण्य ही हैं जिन्होंने अपनी मूल रचना के साथ-साथ उसकी टीका भी प्रस्तुत की हो। एक दृष्टिकोण से यह कवि के लिए भूषण स्वरूप है क्योकि ऐसी टीका से सामान्य अध्येता उसे सहजतया समझ सकता है। अन्यथा सौभाग्य से यदि तत्तत्शास्त्रविज्ञ अधिकारी विद्वान् की मूल को सही रूप मे समझाने वाली टीका मिल जाती है, तो उसका सहारा लिया जाता है। परन्तु ऐसे ग्रन्थ, जिन पर न तो मूल लेखक की टीका प्राप्त है और न अन्य प्रामाणिक विद्वान् की टीका उपलब्ध है, कठिन स्थलों को प्राथमिक अध्येता के लिए अधिकारी विद्वान् की सहायता के बिना उसे समझना एक दुष्कर कार्य हो जाता है। अतः सगीतरघुनन्दन की व्यग्यार्थचन्द्रिकानामक टीका के लिए पाठको की ऋणता सदैव बनी रहेगी।

प्रस्तुत काव्य की टीका मे यत्र-तत्र 'श्रीमते रामानुजाय नम.' यह उक्ति प्राप्त होती है। जिससे प्रायः निश्चित है कि टीका का प्रतिलिपिक विशिष्टाद्वैत के प्रबल समर्थक श्री रामानुजाचार्य के भक्तवर्ग से कोई था।

कुछ और शब्द

मूल ग्रन्थ को हमने प्रस्तावना, समालोचन एवं अनेक परिशिष्टादि से भूषित किया है। कविरचित व्यङ्ग्यार्थकौमुदी-टीका भी ऐसे अनेक सन्दर्भों से कुछ कम शोभित न थी। टीका का अन्तिम श्लोक सुनते ही बनता है —

एषा माधुर्य्यधारा धरणितलगता विश्वनाथप्रचारा,
भास्वतसन्तान-तारा-परिवृढविशदध्यानसन्धानसारा।
पापौघोदश्वदारा भवजलधिसमुत्तारणे नौरुदारा,
शृङ्गारैकप्रसारा जयति परमुखद्रावकस्वान्तकारा॥

फिर भी सुधार के लिये स्थान सदा रह ही जाता है। कुछ नये गंधो के समिश्रण से कस्तूरिकामोद को जैसे एक नया मोड दिया जा सकता है, उसी तरह सङ्गीतरघुनन्दन को भी। गीतगोविन्द मे गले की गीति अत्यन्त मोहक है। सङ्गीतरघुनन्दन मे चरणचालन द्वारा उत्पन्न रणन श्रोता को मुग्ध करता है। साथ ही अलङ्कारो के सार्थक प्रयोग भी ध्येय है। सरयू का किनारा सजीव हो उठता है। एक नवीन जीवन उसे स्फुरित करना है। कही उसमें श्रीमद्भागवत की, तो कही, गीतगोविन्द की ध्वनि निकलती है।

ये तथ्य प्रायः सबको ज्ञात हैं। पाटन के स्वामी, चौलुक्य राजा सगीत के प्रेमी थे। पराजित होकर जब वे रीवा-प्रदेश मे पहुचे तो सरस्वती ने उनका साथ दिया। कहा जाता है कि तानसेन रीवां के दरबार मे रहा था और श्रीरामचन्द्रसिंह भी अच्छे रामभक्त और सगीतप्रेमी थे। विश्वनाथ सदा अपने को श्रीरामचन्द्र-कृपा का अधिकारी लिखते हैं. इससे यह सम्भावना होती है कि विश्वनाथसिंह राम भक्त बन चुके थे। किसी अश मे यह भक्ति उन्हे अपने पिता जयसिंह से विरासत मे मिली होगी और इसी कारण वे हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। यह भी कहा जाता है कि ये षडक्षर राम-मत्र के साधक थे। यह भी सम्भव है कि आगे जा कर इन्होने भगवान् के निर्गुण-स्वरूप पर लिख कर उसे भी प्रकाशित किया हो। यह भी कहना ठीक हो सकता है कि यह विश्वनाथसिंह के आध्यात्मिक विकास की एक सीढी थी। इन्होने भगवान् के निर्गुण और सगुण इन दोनो रूपो की अनुभूति की होगी।

यह विकास की धारा लगातार चली और चल रही है और इसी के प्रभाव से बाघेल-वश मे श्री रघुराजसिंह, गुलाबसिंह, मार्तण्डसिंह आदि वीर एव अध्यात्म-प्रेमी महाराजाओ की उत्पत्ति हुई है। श्रीविश्वनाथ का आनन्दरघुनन्दन नाटक यदि विश्वनाथसिंह की सबसे प्रसिद्ध कृति है तो सस्कृत सङ्गीतरघुनन्दन भी आकार मे कुछ छोटा नही, अनेक रचनाओ से गुणत. बडा ही है। आशा है कि विद्वान् इसे समुचित प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे।

—दशरथ शर्मा

श्रीविश्वनाथदेवप्रणीतम्

सङ्गीतरघुनन्दनम्

व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकाख्यया स्वोपज्ञव्याख्यया संवलितम् ।

प्रथमः सर्गः

[मङ्गलाचरणम्]

॥ श्रीमते रामानुजाय नम ॥

वन्दे तत्पदकमल यस्य मकरन्द पुनाति जगदखिलम् ।
उपल परागलेशश्चेतनतां शीघ्रमानयति ॥१॥

राजेन्द्रनन्दनविलोचनचञ्चरीक—
ससेव्यमानवदनाम्बुरुहां सखीभि ।
स्वीयप्रभाजितरमारुचिभि परीतां,
रासेश्वरी हृदि भजे निमिराजपुत्रीम् ॥२॥

अशेषाज्ञानतिमिरविध्वसनदिवाकरम् ।
श्रीरामरासरसिक जगत्प्राणसुत नुम. ॥३॥

शारदाम्भोजवदनां शारदेन्दीवरेक्षणाम् ।
नमामि शारदान्देवी शारदेन्दुकरप्रभाम् ॥४॥

सिन्दूरपूरादरुणङ्कलाधरकलाधरम् ।
सध्याम्बरमिवावन्दे गणेश्वरमहं[1] वपुः ॥५॥

सीतारामरहस्य मां बोधयन्ति हृदम्बुजे[2] ।
स्थितांस्तान्हरिरूपाञ्छ्रीप्रियादासगुरून् भजे ॥६॥

नत्वा गौरीशपादाब्ज टीका व्यंग्यार्थचन्द्रिका ।
श्रीरामरासरसिकविनोदाय विधीयते ॥७॥

---

१. ख. गणेश्वरमहा । २. क. हृदाम्बुजे ।

अस्य व्याख्येयग्रन्थस्य परमोत्तमत्वम्, यद्यपि काव्यप्रकाशे उत्तममध्यमाधम-भेदात्काव्यस्य त्रैविध्यमेवोक्तम् । तथा हि—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।
अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्ये[1] व्यङ्ग्ये[2] तु मध्यमम्[3] ।
शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् । इति ।

तदुदाहरणानि च—

निःशेषच्युतचन्दनं[4] स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥१॥

ग्रामतरुणं तरुण्या [5]नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥२॥

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा[6]-
[7]मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम[8]-
[9]द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥३॥

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्,
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि[10] यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला,
निमीलिताक्षीव[11] भियामरावती[12] ॥४॥

तथाप्यत्र प्रतिश्लोकं ध्वनिभिर्ध्वनीनामुद्भवात्[13] परमोत्तमत्वमित्युक्तम्[14] । तदुक्तमलङ्कारकौस्तुभे—

'ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमत्वम् । इति ।

अथ चमत्कृतरामायणादिभाषाग्रन्थेषु सर्वसिद्धान्तादिसंस्कृतग्रन्थेषु[15] च यथा मया व्यङ्ग्यार्थो भावश्च रक्षितस्तथा न श्रूयतेऽत इदं सङ्गीतरघुनन्दननाम स्वल्पं

---

१ क ०व्यङ्ग्यं । २. क व्यङ्ग्ये । ३ क. मध्यम् । ४. क वदनं । ५ क नववञ्जुल० ।
६ ख ०च्छातेतरौ वृच्छटा । ७ ख मूच्छन्मोह—स्नानाह्निकाह्नाय च. ।
८ ख ०दरिद्रद्रुमा । ९ ख द्रोहद्रिक० । १०. ख पदच्छयापि । ११ ख निमिलितोक्षीव ।
१२ ख भियामरावती । १३. ध्वनिभिर्ध्वनीनाद्भवात् । १४ ख. परमोत्तमत्त० ।
१५. ख सर्वसिद्धांदि० ।

ग्रन्थमवगत्य ग्रन्थविस्तरभयादलङ्कारादिविवेचनमपहाय सक्षेपतो गूढमगूढमिति द्विविध व्यंग्यं भाव च दर्शयन्नर्थमात्र करोमि। अनयैव रीत्या अन्येष्वपि ग्रन्थेषु व्यंग्यादि सद्भिर्विलोकनीयम्। ननु कथ स्वमुखेन स्वकृत ग्रन्थ प्रशससीति चेच्छृणु। मन्दस्य मम कथमीदृशग्रन्थकरणसामर्थ्य, रघुनन्दन एव मदन्तः प्रविश्य निज [1]चरितमुच्चरितवानतस्तत्कृतस्य [ग्रन्थस्य प्रशसा कृता।

नन्वस्य ग्रन्थस्य रघुनाथप्रणीतत्वे तत्र-तत्र 'विश्वनाथकृतत्वोत्कीर्त्तनविरोध-स्तस्य] विघ्नशङ्काभयात् [2]मङ्गलाचरणाऽसगतिश्चेति, चेन्न, मन्मुखोद्गतत्वेन[3] मत्कृतत्वोत्कीर्त्तनसगते. मन्मुखोद्गतत्वनिर्विघ्नत्वाय[4] शिष्टाचारप्रदर्शनाय[5] च मङ्गलाचरणोपपत्तेश्च[6]। अथ ग्रन्थस्य प्रकटन चिकीर्षुर्मङ्गलमाचरति।

॥ श्रीजानकीवल्लभाय नम ॥

रामप्रेमपयोधिवर्द्धनविधु शृङ्गारसारास्पद[7],
ससारार्णवदासतारणतरि[8]र्मायातमोदीपिका।
विद्युद्भा सुखवृन्दवर्षणकरी कादम्विनी काप्यसौ,
मद्धृत्कञ्जनिवासिनी विजयतां श्रीजानकी सर्वदा ।।१।।

रामप्रेमेति। रामस्य प्रेमैव पयोधि· समुद्रस्तस्य वर्द्धने विधुश्चन्द्र, शृङ्गारस्य यः सारस्तस्यास्पदं निवासस्थान, ससार एवार्णव समुद्रस्तस्माद्दासस्य तारणे तरिर्नौका, मायैव तमोऽन्धकारस्तस्य दीपिका, यथा दीपिका प्रसिद्धमन्धकार नाशयति, तथेयमपि माया नाशयतीत्यर्थ। विद्युत्तद्वद्[9] भा यस्या. सा, सुखवृन्दस्य वर्षणकरी, मद्धृत्कञ्जनिवासिनी मम हृदयकमले निवसनशीला, कापि प्रसिद्ध-कादम्विनीतो विलक्षणा कादम्विनी मेघमाला, एवम्भूता असौ श्रीजानकी सर्वदा विजयता निजोत्कर्षं प्रकटयत्वित्यर्थ.। अत्र मद्धृत्कजनिवासिनीति पदेन मद्धृदये[10] निवसन्त्येतद्गुणविशिष्टा श्रीजानकी मद्हृदयोद्गत[11] काव्यमप्येतद्गुणविशिष्ट करोत्विति व्यज्यते। तेन चैतद् ग्रन्थस्य परमोत्तमत्वम्। अत्र वक्तृबोद्धव्य-वैशिष्ट्यजन्यपदप्रधानार्थशक्त्युद्भववस्तुना[12] वस्तुध्वनि:[13]। अत्र वक्ता कविस्तत्र वैशिष्ट्य च सीतारामरासविषयकप्रेमरूप प्रमाणान्तरवेद्य[14] तत् तस्मात्तथा च

---

१ ख त्वरितमुच्चरिवान्। [-] कोष्ठबद्धांश ख पुस्तके नाऽस्ति। २. ख विघ्नसकाभान्। ३. ख मन्मुखोद्गततेन। ४. ख. शिष्टाचारप्रदर्शनाय। ५. ख शन्मुखोद्गतत्वनिर्विघ्नत्वाथ। ६ ख. चरणोपपक्षेश्च। ७. ख. ०सारस्पद। ८. ख० तारणारि। ९ ख. विद्युत इव। १० ख मम हृदये। ११. ख. मम हृदयो०। १२. ख. ०शतुद्भववस्तुना। १३. ख. वास्तुध्वनि। १४ ख प्रमाणान्तर्वेद्य।

कविना वोद्धव्या प्रतिपादनीया श्रीजानकी । तत्र प्रमाणान्तरवेद्यमभीष्टदातृत्वरूप वैशिष्ट्य, तस्मात्तज्ज्ञानवता श्लोको यातस्यार्थस्य मम काव्यमेतद्गुणविशिष्ट कुर्वित्यन्यार्थबुद्धिहेतुव्यापारो व्यञ्जनावृत्तिः ॥१॥

कीर्त्या. कीर्त्तिरथो भुवोऽपि च तथा भू श्री श्रियश्चोत्तमा,
ह्लादिन्यादिसुशक्तिसेवितपदा मायादिकस्वामिनी ।
सर्वेषामपि कामदो रघुपतिस्तस्यापि या कामदा,
सा सीता नयतां मदीयभणिति रासेश्वरी चारुताम् ॥२॥

[1]कीर्त्तिरिति । कीर्त्या लीलादेव्या अपि कीर्त्तिः लीलादेवी तथा भुव. भूदेव्या अपि भूः भूदेवी तथा श्रिय· श्रीदेव्या अपि उत्तमा श्रीदेवी तथा च वाल्मीकीये "श्रिय. श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्या[2] कीर्त्ति[3] क्षमा क्षमेति"। तथा ह्लादिन्यादयो या सुशक्तयश्चैतन्यशक्तयस्ताभि सेविते पदे चरणे यस्या. सा, माया आदिर्यासा ता मायादिका जडशक्तयस्तासा स्वामिनी प्रवर्त्तनकर्त्री[4] । सर्वेषामपि कामदो रघुपति श्रीरामचन्द्रस्तस्यापि सर्वकामप्रदस्यापि, या कामदा कामदात्री सा रासेश्वरी सीता मदीयभणिति चारुता माधुर्यादिगुणसम्पन्नतां नयता प्रापयतु । अत्र सीतापदस्यायमर्थ —

सा च लक्ष्मी. प्रकीतिता । अकारो वासुदेव स्यादाकारश्च पितामह , ऐकार स्यान्महेश्वर· ।

इति एकाक्षरकोशात् । सा च अश्च आश्च ऐश्च[5] — एषा समाहार 'सि' लक्ष्मीवासुदेवपितामहमहेश्वरम्, तदिता [अन्तर्य्यामितया प्राप्ता सीतेति सीतापदस्येद व्यङ्ग्यम् । सर्वान्तर्यामिविष्णोरप्यन्तर्य्यामितयासर्वा] ऽन्तर्यामित्वमिति । तेन च हृदि मा प्रेरयित्वेम ग्रन्थ प्रादुर्भावयत्विति[6] व्यज्यते । अत्र वक्तृवैशिष्ट्यजन्यपदप्रवानशव्दशक्त्युद्भववस्तुना प्रार्थनारूपवस्तुध्वनि· । अत्र कीर्त्याः कीर्त्तिरित्यादिविशेषणैस्तत्प्रेरितमन्मुखप्रकटितकाव्यमपि[7] कीर्तिकर्तृ तथा भूप्रद तथैश्वर्यप्रद तथा निवृत्तिकारि तथा कामप्रद करोत्विति व्यज्यते ।'तेन च ग्रन्थस्य जगदुपकारकत्वमिति । रासेश्वरीति पदेन च मदीयहृदये रास प्रकटयत्विति व्यज्यते ॥२॥

सर्वक्लेशमृणालपाटनपटुर्मत्तेभराजो बली,
सीतारामवियोगवह्निशमन सावर्त्तको वारिद ।

---

१ ख कीर्त्या कीर्त्तिरिति । २. ख कीर्त्ताः । ३ ख अशोऽय नास्ति । ४ ख प्रवर्त्तनकर्त्री । ५ ख नाऽस्त्यमश· । [-] कोष्ठकगतोश ख पुस्तके नाऽस्ति । ६ ख प्रादुर्भावत्विति । ७ ख ०काव्यमयी ।

सौमित्रिक्षतराजरोगदमनो धन्वन्तरिर्वैद्यराट्,
नाम्ना श्रीहनुमान्सुरासरसिको मां सर्वतो रक्षतात् ॥३॥

श्रीरामचरितवर्णने मुख्यं विघ्नविनाशन हनुमन्त प्रार्थयति—

सर्वक्लेशेति । सर्वे ये क्लेशाः अथवा सर्वेषां ये क्लेशा. त एव मृणालानि कमलमूलानि तेषां पाटने उन्मूलने पटुः प्रवीण, बली मत्तेभराजः मत्तगजराजः । सीतारामयोर्यो वियोग., स एव वह्निः तस्य शमनः शान्तिकर्त्ता, सावर्त्तकः प्रलय-कालिक', वारिदो मेघ' ।सौमित्रिर्लक्ष्मणस्तस्य क्षत रावणप्रहृतशक्तिजनित तदेव राजरोग राजयक्ष्मा तस्य दमनः, वैद्यराट् धन्वन्तरि. । एवम्भूत. नाम्ना श्रीहनुमान् हनुर्विद्यते यस्य स हनुमानत्र प्राशस्त्यार्थे मतुप्, दृढहनुरित्यर्थ । सुरासरसिकः सुन्दरो रासस्य रसिकः सर्वतो मां रक्षतात् । अत्र सकलक्लेशाना हनुमत्सा-मर्थ्यपिक्षया कमलमूलवत्[1] कोमलत्वं व्यज्यते । तेन च तन्नाशने हनुमतोऽत्यनाया-सतेति । मृणालोन्मूलने लघवोऽपि जीवा. समर्थाः भवन्ति, तत्र गजराजः, सोऽपि मत्त, स पुनर्बलवान् समर्थो भवतीति किमु वक्तव्यमिति भावः । किञ्च गजो यावन्मात्रस्थल करेण प्राप्नोति, तावन्मात्रस्यैव मृणालान्युन्मूलयति न तु सकलतडागस्य । भवांस्तु यदीच्छेत्तदा[2] सकलससारस्य क्लेशान् युगपदेव निर्मूलये-दिति पटुताविशिष्टविलक्षणगजराजरूपकतया व्यज्यते । यतो भवानस्मत्स्वामिनोः सीतारामयोर्वियोगवह्निं शमितवानतस्तद्दासस्य[3] ममापि तयो साक्षाद्दर्शनरूप-वियोग शमयेति सीतारामेत्यादिवाक्येन व्यज्यते ।पुरा शक्तिविद्धलक्ष्मणरक्षणात्[4] श्रीरामस्त्वयि परमप्रसन्नोऽभूत, सम्प्रति तस्यैव दासोऽहमपि हृदयलग्नयाऽज्ञान[5]-रूपशक्त्या मोहितस्ता[6] दूरीकुर्य्याश्चेत्तर्हि पुनरुपकारेण श्रीरामस्त्वय्यतिप्रसन्नो भविष्यतीति सौमित्रीत्यादिना व्यज्यते । हनुमानित्यनेन वीराङ्कयुक्त, तेन च स्वामिनो वीरयोद्धास्तीति व्यज्यते ॥३॥

वीणापुस्तकहस्तमस्तकविधु. शुक्लाम्बुजन्मासना,
चन्द्रोद्भासविलासहासवदना विद्वज्जनैर्वन्दिता ।
शास्त्रव्यस्तसमस्तवेदविदिता विध्वस्तविश्वाज्ञता,
दत्तोद्दामधि मामकीनवदने वर्वर्त्तु वागीश्वरी ॥४॥

---

१ ख कमललवत् । २ ख यदीक्षेतदा । ३ ०स्तद्दशस्य । ४ ख रक्षतात् ।
५ ख ०ज्ञान—। ६. ख. मोहितास्ता ।

अथ वागधिष्ठातृत्वात् सरस्वतीं प्रार्थयति—

वीणापुस्तकेति । वीणापुस्तके हस्तयोर्यस्याः सा, मस्तके विधुर्यस्याः सा, वीणापुस्तकहस्ता चासौ मस्तकविधुश्चेति कर्मधारयः । शुक्लाम्बुजन्म पुण्डरीकम् आसनं यस्याः सा, चन्द्रस्य उद्भासः प्रकाशः तस्येव[1] विलासो यस्य स चाऽसौ हासश्च वदने यस्याः सा, विद्वज्जनैर्वन्दिता शास्त्रैर्न्यायादिभिर्व्यस्तैर्ऋगादिरूपैः समस्तैर्गायत्र्यादिमन्त्ररूपैः प्रणवादिबीजरूपैर्वेदैश्च, "वेदः प्रणव एवाग्र" इति भागवतोक्तेः, विदिता ज्ञाता ब्रह्मस्वरूपिणीत्यर्थः । विध्वस्ता विनाशिता विश्वस्य अज्ञता यया सा, एवम्भूता वागीश्वरी वाचामीश्वरी सरस्वती, दत्तोद्दामा[2] महती धीर्बुद्धिर्यस्मिन्कर्मण्येव मामकीनवदने मम मुखे वर्वर्त्तु अतिशयेन वर्त्तताम् । वीणापुस्तकहस्तेत्यनेन गाने काव्यादिसकलशास्त्रे च प्रवीणता[3], तेन च ममाऽकाव्य[4] मधुरता-पदसाधुता-सालङ्कारता-सरसतासम्पन्नं करोत्विति व्यज्यते । मस्तकविधुरिति कमलासनेति-विशेषणद्वयेन आह्लादकत्वं तापनिवर्त्तकत्वं च यथा त्वय्यस्ति मदीये काव्येऽपि ते कुर्विति प्रार्थना व्यज्यते । हासवदनेति विशेषणेन तस्याः सदा प्रसन्नता व्यञ्जिता । तया च यः प्रसन्नो भवति स प्रार्थनामात्रेणैव मनोरथं पूरयतीति व्यज्यते । विद्वज्जनवन्दितेति विशेषणेन विद्वांसस्त्वत्प्रसादेनैव पाण्डित्यं लभन्त इति व्यज्यते । विध्वस्तविश्वाज्ञतेत्यत्र त्वमेव विश्वस्याज्ञानं नाशयस्यहमपि विश्वस्मिन्नेवाऽस्म्यतो मे न काऽपि चिन्तेति भावः । वागीश्वरीत्यत्रायं भावः—वाचः सरस्वत्या ईश्वरी रामरासस्था सरस्वती मया प्रार्थिता सती मम मुखे स्थित्वा रामरासवर्णनचिकीर्षुं मामुत्तमवर्णनं कारयत्विति रामरासे सरस्वत्याः स्थितिरुक्ता[5] सुदर्शनसंहितायां तथाहि—

वाणी नित्यसखीव्यूहाद्वीणापाणिः समाययौ । इति ।।४।।

जयति सच्चिदानन्दघनवरदवरसर्वगुणशालिश्रृङ्गाररसपालिमूर्त्तिः,
सर्वजनवत्सल प्रविगलितमत्सर-प्रेमपाथोधि-पुरुषार्थपूर्त्तिः ।
सर्वगत-सर्वमत-सर्ववन्दितचरण-सर्वशरणागतोद्धृतिविहारी,
गुरुरूपरघुवर श्रीप्रियादास इह विश्वनाथान्तरे[6] गीतकारी ।।५।।

अथ ज्ञानप्रदत्वाद् गुरुं स्तौति—जयतीति । इह विश्वनाथस्य मम अन्तरे हृदये, गीतकारी गीतं सङ्गीतरघुनन्दनं नाम काव्यरूपं तत्करणशीलः, श्रिया

१. ग तस्येव । २. ख दत्तोद्दामा । ३ ख प्रवीता । ४. ममापि काव्यं । ५ क. उक्ता । ६. ग. विश्वनाथतरे ।

युक्तः प्रियः अर्थात् सर्वेषां न दासः अदासः स्वतन्त्र इति यावत् । श्रीप्रियश्चासावदासश्चेति[1] कर्मधारयः, श्रीप्रियादासनामा गुरुरूपरघुवरः रघुश्रेष्ठः श्रीरामचन्द्रः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, अर्थान्निजोत्कर्षं प्रकटयति । सच्चिदानन्दघनवरदेषु वरा श्रेष्ठा सर्वगुणशालिनी सकलकल्याणगुणशोभिता शृङ्गाररसः प्रियता भक्तिरूपस्तस्य पालिनी [2]स्वस्मिन्नाचरणेन अन्यत्र प्रचारकरणेन च पालनशीला एवम्भूता मूर्त्तिर्यस्य स । सर्वजनवत्सलः सर्वेषु जनेषु वत्सलः प्रीतियुक्तः अथवा सर्वे जना वत्सलाः प्रीतियुक्ताः यस्मिन् सः समदर्शीत्यर्थः । प्रविगलितमत्सरः प्रकर्षेण विगलितो मत्सरः परोत्कर्षासहनं यस्य सः, प्रेम्णः पाथोधिः समुद्रः अथवा प्रेम्णः पाथोधिर्यस्मात् सः यत्सगाज्जनः प्रेमसमुद्रो भवतीत्यर्थः, पुरुषार्थानां धर्मार्थकाममोक्षाणां पूर्त्तिर्यस्मात् सः तेषां दातेत्यर्थः, प्रविगलितमत्सरश्चासौ प्रेमपाथोधिः स च पुरुषार्थपूर्त्तिश्चेति कर्मधारयः । सर्वगतः सर्वव्यापी, सर्वमतः सर्वेषां सम्मतः, सर्वैर्वन्दिते चरणे यस्य सः, सर्वे ये शरणागतास्तेषामुद्धृत्यै विहरणशील । सर्वगतेत्यादिचतुर्णां विशेषणानां कर्मधारय । वरदवरेत्यस्यायमर्थः — अन्ये वरदातारः सेवातो वरं ददति, अयन्तु स्वयमेव तत्र-तत्र गत्वा वरं ददातीति, एतेन[3] तस्यातिसौलभ्यं व्यज्यते । तेन च दयालुतातिशय इति । एष भक्तावतारं धृत्वा मामन्यांश्च कृतार्थानकरोदिति कथा लोके प्रसिद्धैव । सर्वजनवत्सलेति विशेषणेन एष कृतेऽप्यपकारे उपकारमेवकरोतीति व्यज्यते, तेन चास्य वैषम्याभाव इति । प्रविगलितमत्सर इति विशेषणेन एष विपक्षस्यापि[4] दोषाननालोच्य प्रसन्नो[5] भवतीति व्यज्यते । तेन चास्य[6] गुणग्राहकत्वमिति । प्रेमपाथोधीत्यनेन मेघा[7] यथा समुद्राज्जलमादायान्यत्र वर्षन्ति तथास्मात् प्रेमाणमादायान्येऽन्यानपि कृतार्थयन्तीति व्यज्यते । पुरुषार्थपूर्त्तिरिति-[8] विशेषणेन एष एव रचयिताऽतो मम[9] काव्यमपि पुरुषार्थचतुष्टयदायकं करिष्यतीति व्यज्यते, तेन च विषयिणामप्यस्य प्रियत्वमिति । सर्वगतेत्यादिना सर्वस्यान्तरे ममैव प्रतिपादने तात्पर्यमस्तीति सर्वगतत्वादपगत्य सर्वतो विरोधं परिहृत्य सर्वमतं[10] स्वीकरोति तत्तद्देवताद्वारफलं[11] च ददाति तत एव कोऽपि कस्यापि वन्दनं करोतु तत्तस्यैव भवति । उक्तञ्च भारते—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥

---

१ ख वदाश्चेति । २. ख. स्विस्मिन्ना० । ३. ख. एतेन च । ४. विपक्षास्यापि ।
५ ख. प्रशन्नो । ६. ख च पर । ७. क मेघ । ८. ख पुरुषार्थपूर्ति—। ९. ख. नम ।
१०. ख. सर्वमेत । ११ ख. तक्षदेवताद्वारा फल ।

इति । तत एव कोऽपि कमपि शरणं यातु, तत्रोद्धरणसामर्थ्यं तस्यैवेति[1] व्यज्यते । तदुक्तम्—

कर्तृत्वं करणत्वं च स्वभावश्चेतना धृतिः ।
यत्प्रसादादिमे सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥इति।

विश्वनाथेत्यादिना यस्य गीतं स एव मदन्त.[2] प्रविश्य करोत्यतो यथार्थं भविष्यतीति व्यज्यते । सर्वत्र गीते प्रथमचरणं ध्रुवपदम्[3] । तत्क्वचिदधिकमात्रं क्वचिन्न्यूनमात्रं क्वचित्सममात्रं सर्वाचार्य्यकृतौ दृश्यतेऽतोऽत्र दण्डके प्रथमपदे मात्रात्रयाधिक्यमदूष्यम् ॥५॥

शिव हरिचरितसरोवरव्यङ्ग्यकमलरसभृङ्ग ।
शरणं तव चरणं भजे ध्यानाश्रितगिरिशृङ्ग ॥६॥

अथ श्रीरामलीलापरमरसिकं स्वादिगुरुं श्रीशिवं स्तौति—

शिवेति । हरेश्चरितं रामायणादिरूपं तदेव सरोवरं तत्र व्यङ्ग्यार्थ एव कमलं, तत्र यो रसः आस्वादविशेषस्तत्र भृङ्ग भ्रमरसदृश. श्रीरामचरितव्यङ्ग्यार्थरसास्वादनेऽतिनिपुण. । ध्यानाय आश्रितं गिरेः कैलासस्य शृङ्गं शिखरं येन एवम्भूत हे शिव ! शरणं रक्षकं तव चरणं भजे । ध्यानेत्यादिविशेषणेन एकान्तमास्थाय श्रीरामचरितमेव सर्वस्वं ज्ञात्वा तदनुभवं करोषीति व्यञ्जितम् । तेनाहमपि सङ्गीतरघुनन्दनं करोमि । हे शिव ! तदप्यास्वादयेति प्रार्थना व्यज्यते । Xतेन च ग्रन्थस्य गुरुसमर्पणं,X तेन च ग्रन्थस्य कविमनसि सिद्धत्वमिति ॥६॥

गोविन्दगुरुगुणालीश्रुतिशर्मभवाश्रुमालतीमाल ।
धृतचन्दिर गुणमन्दिर लम्बोदर तावकं पदं वन्दे ॥७॥

अथ विघ्नविध्वसाय स्वप्रमन्त्रप्रदगुरुपुत्रं गणेशं वन्दते—गोविन्देति । गोविन्दस्येन्द्रियप्रवर्त्तकस्य श्रीरामचन्द्रस्य गुरवो रामसम्बन्धिनो[4] नृत्यगीतादयो ये गुणास्तेषामाल्यः परम्परास्तासां या श्रुति. श्रवणं तस्या यच्छर्म सुखं तेन भवानि जातानि यान्यश्रूणि तान्येव मालत्यः मालतीपुष्पाणि तासां माला यस्य तत्सम्बुद्धिः । धृतश्चन्दिरश्चन्द्रो येन तत्सम्बुद्धिः । हे गुणानां मन्दिर, गुणनिवासस्थान, अत एव लम्बोदर, तावकं पदं वन्दे । अयं भावः—गोविन्दगुरुगुणपर-

१. ख. तस्यैव वेति । २. ख मदतं । ३. ख. ध्रुपद । X-X चिह्नान्तर्गतांशस्याभाव. ख. पुस्तके । ४. ख. राससम्बन्धिनो ।

म्परयान्तःकरण पूर्णं [1]सुखाश्रुमालतीमालाभिर्वक्षःस्थल पूर्णमस्ति । चन्द्रधारकत्वेन सकलकल्याणगुणाश्रयत्वेन च ऐहिकपारलौकिकतापनिवर्त्तकस्त्वमसीति । गोविन्देत्यादिविशेषणेन गणेशस्य रासवर्णनश्रवणरसिकत्व व्यजितम् । तेन च तद्विषयकस्य मम ग्रन्थस्यापि श्रवणं कुर्विति प्रार्थनेति[2] ॥७॥

विन्ध्ये रिपुगजसिंहो जयसिंहो राजसिंहोऽस्ति ।
तनुते तस्य तनु(नू)जो ग्रन्थ सङ्गीतरघुनन्दनाख्यम् ॥८॥

अथ ग्रन्थविस्तरण प्रतिजानीते—विन्ध्य इति । रिपव एव गजास्तेषा सिंह इव, जयसिंहः जयसिंहदेवनामा, राजसिंह राजश्रेष्ठो विन्ध्ये गिरौ अस्ति[3], अथवा विन्ध्ये विन्ध्यगिरिसदृशे तमोगहने ससारे रिपवः कामादय एव गजास्तेषा सिंह सिंहसदृश, यमादिभि. राजन्ते इति राजानस्तपस्विनस्तेषु सिंह. श्रेष्ठो जयसिंहोऽस्ति, तस्य तनुज.[4] पुत्रः विश्वनाथसिंहदेवनामा, सम्यग्गीतो रघुनन्दनो यस्मिन्स सगीतरघुनन्दन इति आख्या नाम यस्य त, ग्रन्थ आनुपूर्वीविशिष्टपदसन्दर्भं तनुते विस्तारयति । विस्तारो हि पूर्वसिद्धस्यैव भवत्यतस्तनुत[5] इति क्रिययास्य[6] ग्रन्थस्य पूर्वसिद्धत्व व्यजितम् । तेन चैतद्रीत्या रघुनन्दनो रास करोतीति व्यज्यते ॥८॥

चिरमननसमनुभूतश्रीसीतारामरासंसंयुक्त. ।
सद्यो रसिकजनाना[7] हृदयानन्दी भवत्वयं सुचिरम् ॥९॥

अथ ग्रन्थकर्तृकाशीर्दानपूर्वकमनुबन्धचतुष्टय[8] दर्शयति—

चिरमननेति । अगस्त्यसहिताशुकसहिताहनुमत्सहिताशिवसहिताकोशलखण्डब्रह्मरामायणादीनां [9]श्रीमध्वाचार्यकृतवाल्मीकीयरामायणसन्दर्भस्य च यच्चिरमनन तेन सम्यगनुभूतो यः श्रीसीतारामयोः रासस्तेन सयुक्तस्तद्दर्शनसयुक्त इत्यर्थ । अय[10] ग्रन्थः रसिकजनाना सद्यो हृदयानन्दी सुचिर बहुकालं भवतु । अत्राधिकारी रसिकोपासक, विषयो रास सम्बन्धश्च[11] प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव प्रयोजनं प्रेमलक्षणा भक्तिः ॥९।

---

१. ख सुखामालती० । २. ख. नास्त्ययमशः । ३. ख असि । ४ ख. तनज । ५ ख. ०स्तनु । ६. ख. त्रिक्रियया० । ७. ख. ०जना । ८. ख. ग्रन्थकर्तृकर्त्ताशी० । ९. ख. ०वाल्मीकीरामा० । १०. ख अय । ११. ख. सबश्च ।

नृपबोधद[1] वेदक्षितिपालनकारी, प्रलयपयोधिसलिलसञ्चारी ।
श्रीरघुवर मीनसुरूप ! जय जगदीशपते ॥१॥

तत्तदवतारकृतलीला[2] वर्णयन्नवतारिण स्तौति[3]–नृपेति· नृपाय सत्यव्रतनाम्ने बोध ज्ञान ददातीति नृपबोधद तत्सम्बुद्धि हे, नृपबोधद ! मीनस्य सुष्ठु[4] रूप यस्य[5] तत्सम्बुद्धिः, हे मीनसुरूप[6] ! जगता य ईशस्तेषा[7] पते श्रीरघुवर ! वेदक्षित्यो पालनकारी[8] प्रलयपयोधे. सलिलसञ्चरणशीलस्त्व जय निजोत्कर्ष प्रकटय । भक्तिज्ञानाभ्या[9] रहिताय त्वमेव ते दत्वा तदुद्धार करोषीति भाव. । नृपबोधदेत्यादिनाऽकरणोपकारकत्व व्यज्यते । तेन च तादृशाय मह्यमपि ते देहीति प्रार्थना व्यज्यते । जयेत्यनेन यस्य तव चरितानि कथयितु शेषादिका असमर्था[10], स त्वमेव मन्दमतेर्मम हृदम्बुजे स्थित्वा निजगुणवर्णनसमर्थ मा कुर्विति व्यज्यते । दर्शितप्रलयो मीनरूपभगवान्[11] सत्यव्रतनामान राजान महीमय्यां[12] नौकायामारोप्य, ताञ्च निजशृङ्गे बन्धयित्वा प्रलयपयोधिसलिले सञ्चचारेति कथा भागवते प्रसिद्धा ॥१॥

जलधिमथनबहुखिन्नसुरासुरपाता, जलतलयातमन्थनगधाता ।
श्रीरघुवर कमठसुरूप ! जय जगदीशपते ॥२॥

जलधिमथनेति[12] । हे कमठसुरूप श्रीरघुवर ! जलधिमथने बहुखिन्ना ये सुरासुरा[13]स्तेषा पाता[14] रक्षक, जलतल यात प्राप्तो यो मन्थनगो मन्दराचलस्तस्य धाता धारणकर्त्ता त्व जय । अत्रेद व्यङ्ग्यम्—हे भगवन्, परमदयालुस्त्व स्वभक्तानां हि क्लेश स्वयमङ्गीकृत्य तत्कार्यं करोषीति । तेन च ममापि सङ्गीतरघुनन्दनग्रन्थविधानरूपकार्यं कुर्विति ॥२॥

रदशिखरे धरणी तव लसति विशाला, गिरिशगिराविव घनघनमाला[15] ।
श्रीरघुवर शूकररूप ! जय जगदीशपते ॥३॥

रदेति । गिरिशगिरौ कैलाशे, घना निबिडा चासौ घनानां मेघाना या माला पक्ति, सेव तव रदस्य दन्तस्य शिखरेऽग्रभागे विशाला विस्तीर्णा धरणी लसति शोभते । हे जगदीशपते शूकररूप श्रीरघुवर ! त्व जय । शूकररूपेण हिरण्याक्ष[16]

१. ख नृपबोध । २ ख लीला । ३ ख. स्तौत्य । ४ ख सुख । ५ पश्य । ६ ०स्वरूप । ७ ख ईशास्तेषां । ८. क. पानमाकारी । ९. न शक्ति० । १० मीनरूपो० । ११. ख महीपम्या । १२ ख. जलध० । १३ ख सुसुरा० । १४ ख धाता । १५ ख धुनघन० । १६. ख हि हिरणाक्ष ।

हत्वा धरण्युद्धृनेति[1] कथा प्रसिद्धैव । अत्रेद व्यग्यम् — हे भगवस्त्व हि सागरमग्नानुद्धृत्य निजाङ्के शोभयस्यतस्त्व सदा दीनोद्धाररसिक इति । तेन च ससारसागरे मग्न मामप्युद्धृत्य निजाङ्कसङ्गिन विधेहीति ॥३॥

तव भुजभीमभुजङ्गो नखरदधारी, कनककशिपुमण्डूकविदारी ।
श्रीरघुवर नरहरिरूप ! जय जगदीशपते ॥४॥

तव भुजेति । नखा एव रदा दन्तास्तान् धरति तच्छील:, तव भुज एव भीमो भयानको भुजङ्ग:, कनककशिपुर्हिरण्यकशिपुनामा दैत्यः स एव मण्डूकस्तस्य विदारी[2] त विदारितवान्[3] । हे जगदीशपते नरहरिरूप नृसिहरूप श्रीरघुवर ! त्व जय । एतेन जिघृक्षोः कालभेकात्कीटरूप मा रक्षेति[4] प्रार्थना व्यज्यते । तेन च तस्य कालकालत्वमिति ॥४॥

छलितोऽनुच्छलयन् बलिमवसि द्वारम्, पदपयसाऽपनयसि भवभारम् ।
श्रीरघुवर वामनरूप ! जय जगदीशपते ॥५॥

छलित इति । बलिमनुच्छलयन् स्वयमेव छलितस्तस्य द्वारमवसि रक्षसि । किञ्च पदपयसा[5] चरणजलेन गङ्गारूपेण, भवस्य ससारस्य भारमपनयसि दूरीकरोषि । पापिन एव भवभारस्तेषा[6] गङ्गादर्शनादिना पापानि[7] ह्रियन्ते[8] इति भाव. । हे वामनरूप श्रीरघुवर ! त्व जय । अह तवाशश्शक्तिर्वा[9], त्वद्विषयक-सख्यदास्यादिभावोचित मा स्वमायया छलयित्वा बद्ध्वा च कर्मरज्जुभिरनेक-योनिषु नर्त्तयसि । बलि सकृच्छलयित्वा तद्द्वारमवसीति श्रूयते । बहुशश्छलनेन मम नेत्रद्वारतो न दूरीभवेति । छलित इत्यादिवाक्येन प्रार्थना व्यज्यते । तेन च तव वियोगस्यातिदु.सहत्वम् । 'वाम सघर्षे' इति धातु, वामयति[10] पराभावयति निजभक्तवत्सलतयेतरभक्तवत्सलानिति वामनः, यतोऽपकर्त्तु गत्वा बले परमो-पकार कृतवानिति । 'खर्वो ह्रस्वश्च[11] वामन' इत्यमराभिधानाद् वामनशब्दस्या-यमाशयः । ईश्वरोऽपि लघुकार्यं कुर्वन् लघुरूपो भवति । अथवा 'टुवम् उद्गिरणे' इति धातु:, वामयत्युद्गारयति बलिना पृथ्वीमिति वामनपदेनानेकविषयवासना मम मनस उद्गारयेति प्रार्थना व्यज्यते ॥५॥

---

१ क धरणस्युद्धृना । २ ख. विदारि । ३. ख.-विदारितवन् । ४. ख. ररक्षेति ।
५. ख. ०पयशा । ६. भवभारास्तेषां । ७. ख. पायानि । ८. ख. द्रियन्ते ।
९. ख तवाशशर्शक्तिभेत । १०. ख वामइति । ११. ख. ह्रस्व ।

[1]सुखदसांख्यरचनातिचतुरमुनिमूर्त्ते, देवहूतिसुमनोरथपूर्त्ते ।
श्रीरघुवर कपिलसुरूप[2] ! जय जगदीशपते ॥६॥

सुखदेति । सुखद मोक्षप्रदं यत्साख्य तस्य रचनायामतिचतुरा मुनिमूर्त्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धि., देवहूते सुन्दरमनोरथाना पूर्त्तिर्यस्मात्तत्सम्बुद्धि., जगदीशपते कपिलसुरूप श्रीरघुवर ! त्व जय । सुखदेत्यत्राय भाव — नास्तिकप्रशंस्यादग्निवेशप्रणीतसाख्याद् भक्तिमिश्र कपिलप्रणीत साख्य पृथगिति । अत्रेद व्यग्यम् — हे मननशील ! त्वमेव विचारय, सर्वो लोके निजजननीमनोरथं पूरयत्यतो लोकसदृश एव त्व जात इति । तेन च मम मनोरथमापूर्य्य निजेश्वर-[3] त्वमुद्घाटयेति प्रार्थना व्यज्यते ॥६॥

धृतहलमुशलनिहतखलनृपनिकुरुम्बम् प्रणमति यममरमनुजकुटुम्बम्[4] ।
श्रीरघुवर हलधररूप ! जय जगदीशपते ॥७॥

धृतेति । धृताभ्या हलमुशलाभ्या निहत खलाना नृपाणा निकुरुम्ब समूहो येन स. त, अमराणा मनुजाना च कुटुम्ब परिवार. य प्रणमति, स हे जगदीशपते हलधररूप श्रीरघुवर ! त्व जय । अत्रेद व्यग्यम्—हे भगवन् ! सपरिवारसुरनर-प्रणताद् भवत इतरो रक्षक. कोऽपि न लक्ष्यतेऽतो नानादु.खदेभ्य. कलियुगखलेभ्यो मा रक्षेति । तेन कलौ खलबाहुल्येन निजग्रन्थप्रचारादिशङ्केति ॥७॥

केलिकुतूहलकरमुनिमानसकर्षी, रासोल्लासमहासुखवर्षी ।
श्रीरघुवर कृष्णसुरूप ! जय जगदीशपते ॥८॥

केलिकुतूहलेति । हे जगदीशपते कृष्णसुरूप श्रीरघुवर ! केलौ क्रीडाया कुतूहलस्य कौतुकस्य [कर्त्ता स चाऽसौ मुनीना मानसस्य][5] कर्षणशील , पुनश्च रासोल्लासे महासुखवर्षणशीलस्त्व जय । मुनिमानसेत्यादिवाक्येन सर्वोपासनाभ्यो रासोपासनस्य परत्वम् । तेन च हे भगवन् ! ममापि मानसमन्यत आकृष्य निजरास एवासक्त[6] कुर्विति । तेन च यथायोग्य रासवर्णनं कुर्य्यामिति प्रार्थना व्यज्यते ॥८॥

जनहिततपसि निरतिमुपयासि सुधामा, परतर ! नरनारायणनामा ।
श्रीरघुवर तापसरूप ! जय जगदीशपते ॥९॥

१ ख. सुखदसाख्य० । २ ख ०स्वरूप । ३ ख तिजेश्वर— । ४. ख यममरकुटुम्बम् ।
५ [-] कोष्ठान्तर्गतोऽश क पुस्तके नाऽस्ति । ख. एवाशक्त ।

जनहितेति । शोभनं धाम तेजो यस्य सः, हे परतर ! अतिश्रेष्ठ, नर इति नारायण इति च नाम यस्य सः, यद्वाऽतिशयेन पर नर-नारायण इति नाम यस्य सः, त्वं जनानां हिताय तपसि निरतिं प्रीतिमुपयासि प्राप्नोषि । अत्र नर-नारायण इति नामद्वयं एकावताराभिप्रायेण । हे जगदीशपते तापसरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । अत्रेदं व्यंग्यम्—जनहिताय स्वयमेव तपः करोषि । अत. परमदयालुस्त्वमतो हे भगवन् ! तव तप.फलमर्हते मह्यमपि[1] स्वभक्तिं देहीति । तेन च स्वस्य तपः करणाद्यसामर्थ्यमिति । यद्वा पक्षे रघुवरनाम्न[2] परमत्वं व्यज्यते ।।९।।

शापमकरहरिगायनसुरतनुदाता, शरणागतगजयूथपपाता ।
श्रीरघुवर वरहरिरूप ! जय जगदीशपते ।।१०।।

शापमकरेति । हे जगदीशपते ! वरं श्रेष्ठं हरिसंज्ञकं रूपं यस्य स. तत्सम्बुद्धिः, हे रघुवर ! शापेन मकरो यो हरेरिन्द्रस्य गायनो गन्धर्वस्तस्य सुरतनोर्दाता, शरणागतस्य गजयूथपस्य गजराजस्य पाता रक्षकस्त्वं जय । अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवन्ननेकजन्मदुष्कृतहरणं तव नामगुणकीर्त्तनं कुर्वन्तं मामज्ञानमकर.[3] कुतो ग्रसितवान् जन्मान्तरे कस्यचिच्छापाच्चेत्तमपि त्वमेव निवार्य्याऽज्ञानमकरात्तरसो-[4] द्धरस्वेति । तेन च स्वस्यानन्यशरणागतत्वमिति[5] ।।१०।।

क्षत्रियमुण्डविगुम्फितवरतरहारम्, गिरिशगलं गमयसि बहुवारम् ।
श्रीरघुवर भृगुवररूप ! जय जगदीशपते ।।११।।

क्षत्रियेति । क्षत्रियाणां मुण्डैर्विगुम्फितं स चासौ वरतरहारश्च स त, बहुवारं गिरिशस्य शिवस्य गलं गमयसि प्रापयसि । हे जगदीशपते भृगुवररूप परशुराम-स्वरूप श्रीरघुवर ! त्वं जय । ये रणे सम्मुखीभूय[6] म्रियन्ते तच्छिरोमालां महादेवो धारयतीति प्रसिद्ध. । अत्रेदं व्यंग्यम्—हे भगवंस्त्वं श्रीशिवस्य समर्थ-शिष्य । स्वप्ने स एव मन्त्रं मह्यमपि दत्तवान्, पश्चान्मया श्रीहरिगुरुप्रियादास-मुखाच्छ्रुतोऽत. सतीर्थ्यं ज्ञात्वा मयापि सख्यं कुर्विति । तेन मामपि समानशीलं कुर्विति च ।।११।।

वितरसि विबुधचयाय नवोदितममृतम्, चिरचिन्तनमश्चितमिव सुकृतम् ।
श्रीरघुवर मोहिनरूप[8] ! जय जगदीशपते ।।१२।।

---

१ क मह्यम । २ ख नाम्ना । ३ ख मामज्ञान० । ४. ख ०मकराक्षरसो— ।
५ ख स्वस्यानन्य० । ६ ख समुखीभय । ७ ख सतीर्थं । ८ क मोहिनरूप ।

वितरसीति। विबुधाना देवाना चयाय[1] समूहाय, चिर तत्र चिन्तनेन सञ्चित सुकृतमिव नवोदित नवमुत्पल समुद्रातिशेप अमृत वितरसि ददासि। हे जगदीशपते, मोहिन्या इद मौहिन तद्रूप यस्य तत्सम्बुद्धि., हे मौहिनरूप श्री रघुवर! त्व जय। अत्रेद व्यग्यम्—भक्तेषु हरेर्ममत्वमस्तीति। तेन च मय्यपि ममत्व कृत्वा मामपि प्रेमामृत पाययस्वेति[2] ॥१२॥

पशुहिंसाविधिपरमवगणयसि निगमम्, प्रकटितबहुपाखण्डाधिगमम्।
श्रीरघुवर बुद्धसुरूप! जय जगदीशपते ॥१३॥

पशुहिंसेति। पशुहिंसाविधिपर यज्ञप्रतिपादक, निगम वेद, प्रकटितो बहूना पाखण्डानामधिगम प्राप्तिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथाऽवगणयसि निन्दसि। हे जगदीशपते बुद्धसुरूप श्रीरघुवर! त्व जय। अत्राय भाव — हे भगवन्! भवानसुरमोहनाय पाखण्डमत प्रतिपादयन्[3] वेदमपि पशुहिंसाप्रतिपादक दर्शयित्वैव[4] निन्दितत्वान्[5] वेदार्थं तु न प्रकटितवानिति। तथा[6] च साक्षात्पशुबलि प्रतिपादयता देवानामिष्टपशु[7] प्रतिपादयद्भिर्मुनिभि सह[8] विवादे मध्यस्थो राजा उपरिचरनामा, पुष्टदेवा[9] वर्षणेन मम राज्य समृद्ध करिष्यन्तीति विचारयन् देवानामेव पक्ष रक्षितवानिति पञ्चरात्रीया कथा महाभारते मोक्षधर्मे भीमोक्ता प्रसिद्धा। अत्रेद व्यग्यम्—[10]ईदृक्प्रवीणस्त्वमन्येषा भ्रममुत्पाद्य स्वभक्तरक्षण करोपीति। तेन च मामपि रक्षेति ॥१३॥

अघगणभवनयवननिधनदवरबाहु, कलिविधुकवलीकरणे राहु[11]।
श्रीरघुवर कल्किसुरूप[12]! जय जगदीशपते ॥१४॥

अघगणेति। हे जगदीशपते कल्किसुरूप[13] श्रीरघुवर! अघगणाना पापसमूहाना भवनानि ये यवना[14] म्लेच्छास्तेपा[15] निधनद:[16] मरणप्रदो वर: श्रेष्ठो बाहुर्यस्य स, कल्किरेव विधुस्तस्य कवलीकरणे राहुसदृशस्त्व जय। अत्र कलिग्रसनेन सत्ययुगप्रवर्त्तकत्व प्रतीयते। अत्रेद व्यग्यम्—निजराज्ये कलिं नाशयित्वा सत्ययुगप्रवृत्तिं कुर्विति। तेन च मुचेतीभूय तव भजन कुर्य्यामिति ॥१४॥

---

१ ख चपाय। २ क पायस्वेति। ३ ख प्रतिपन् ४. ख दर्शयत्वेव। ५ निन्दितवन्। ६ ख यथा। ७ ख ०पिष्टपशुं। ८ ख स। ९. ख पुष्टा देवा। १० ख इदृक्प्रवीण०। ११. ख अघ०णयमन०। १२-१३. ख ०स्वरूप। १४ क यमना। १५ ख म्लेक्षा०। १६. क निधदः।

धन्वन्तरिरिति नाम गदघ्न त्वरितम्, भवदुदित किमु भेषजमशितम् ।
श्रीरघुवर वैद्यसुरूप ! जय जगदीशपते ॥१५॥

धन्वन्तरिरिति । धन्वन्तरिरिति नाम त्वरित गदघ्न रोगनाशकमस्ति । भवदुदित भवता कथित, भेषजमौषध, अशित भक्षित सत् शीघ्रं रोग नाशयतीति किमु वक्तव्यम् । हे जगदीशपते वैद्यसुरूप श्रीरघुवर ! त्व जय । अत्रेद व्यग्यम्—हे भगवन् ! भगवद्भजने मा रोगा बहु व्याकुलयन्ति[1] । तद्यथाऽहमगद स्यान्तथा कृपा विधेहीति । तेन च भवत्कीर्त्तनमनारत कुर्य्यामिति ॥१५॥

रुचिररुची रुचितनयोऽसुररिपुलोकम्, सुखयसि शमितसकलभवशोकम् ।
श्रीरघुवर यज्ञसुरूप ! जय जगदीशपते ॥१६॥

रुचिररुचिरिति । रुचिरा रुचिर्दीप्तिर्यस्य स, रुचे रुचिनामप्रजापतेस्तनयः पुत्रस्त्व, असुररिपुलोक देवलोकं, शमित. शान्ति नीत. सकलस्य भवस्य ससारस्य शोको यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा सुखयसि सुखिन करोषि । हे जगदीशपते यज्ञसुरूप श्रीरघुवर ! त्व जय । अत्रेद व्यग्यम्—ससारशोकनाशनसमर्थस्त्वं ससारगतस्य ममापि शोक दूरीकुर्विति । अनया च प्रार्थनया ससारतापभयव्याकुलता व्यज्यते ॥१६॥

सागरसमरदरासुरहृदयविदारक, वेदोद्धारक वनसञ्चारक[2] ।
श्रीरघुवर हयगलरूप ! जय जगदीशपते ॥१७॥

सागरेति । सागरे समुद्रे, समरे युद्धे, दरासुरस्य शखासुरस्य, हृदय विदारयतीति स तत्सम्बुद्धि, वेदानुद्धरतीति स, वने जनेऽरण्ये वा सञ्चरतीति स. तत्सम्बुद्धिः, हे जगदीशपते हयगलरूप हयग्रीवरूप श्रीरघुवर ! त्व जय । अत्रेद व्यग्यम्—भवतो वेद·यातिप्रियत्वमिति । तेन चेदानी कलिखलैरन्यार्थकथनेन[3] लोपित वेदार्थं मदन्त. स्थित्वा मन्मुखाद्यथा स्थितार्थं प्रकटयेति । तेन च सङ्गीतरघुनन्दनस्य [4]यथावस्थितवेदार्थसारत्वमिति ॥१७॥

नगरमूलनगरादिकबहुरचनो ही, गिलितवीजगोतनुगोदोही ।
श्रीरघुवर पृथुनृपरूप ! जय जगदीशपते ॥१८॥

---

१. ख. व्य कुलयेति । २ ख वचन० । ३ ख कथिनेन । ४ ख यथास्थिति० ।

नगरेति। हे जगदीशपते पृथुनृपरूप श्रीरघुवर ! नगर प्रसिद्ध मूलनगर, यस्मिन् बहुग्रामा लगन्ति[1] तत्, आदिपदेन पुरग्रामव्रजादीना सग्रहः, तेषा या वह्वी रचना, तस्या ऊहस्तर्को[2] यस्य स., गिलित बीज यया सा गोस्तनुर्यस्या. सा, सा चासौ सा चेति कर्मधारय । गिलितबीजगोतनुश्चासौ[3] गौश्चेति सा, तादृशपृथिव्या दोहो दोहनशीलस्त्व जय । अत्रेद व्यग्यम्—हे भगवन्ममापि त्वत्समर्पितराज्ये[4] कलियोगाद् बह्वन्नमनुत्पादयन्त्या.[5] पृथ्व्या प्रचुरमन्नमुत्पादयेति । तेन च राज्यशासनप्रवीणेन भवतैव बद्धा राजमर्य्यादा, तदिदमपि राज्य समर्याद विधेहीति । तेन चाऽहमपि सुचेतीभूय भवच्चरितवर्णन करवाणीति ॥१८॥

परहितपरमहसपथविचलनशील[6], भूसञ्चरणापरिमितलील. ।
श्रीरघुवर ऋषभसुरूप ! जय जगदीशपते ॥१६॥

परहितेति। हे जगदीशपते ऋषभसुरूप श्रीरघुवर ! परेषामन्येषा हिताय परमहसाना पथि मार्गे विचलनशील, भूसञ्चरणेऽपरिमिता लीला यस्य स, त्व जय । अत्रेद व्यग्यम्—हे भगवन्नानन्दरूप परहितपरमहसमार्गचार्य्यपरिमितलीलस्त्व [7]भवदत्त(दात्त दृत्त?) राज्यवास्तव्यानार्य्यलोकभीतस्य भवच्छरणागतस्य ममापि परमहसकरणरूपामेकलीला[8] कुर्विति । तेन च ससारगतस्वस्य[9] वैराग्यवत्तेति । तेन च ससारे क्लेशाधिक्यमिति ॥१६॥

गुरुगणनामिषविमुषितभुवनातोष.[10], अवधूतो जननुतोऽपरोषः ।
श्रीरघुवर दत्तसुरूप ! जय जगदीशपते ॥२०॥

गुणगणनेति[11] ।हे जगदीशपते दत्तसुरूप श्रीरघुवर ! गुरूणा गणनाया[12] मिषेण[13] छलेन, विमुषितः हृत भुवनस्य अतोषो येन स, अपगतः[14] रोषः क्रोधो यस्मात्स., जनैर्नुत स्तुतोऽवधूतस्त्व[15] जय । अत्रेद व्यग्यम्—हे भगवस्त्व हि निजाचरणप्रचारेण भुवनस्यासन्तोष हृत्वाऽनेकगुरूकरणाच्छलेन स्वस्मिन्नेव त रक्षितवानतो भुवनान्तर्वर्त्तिनो ममाप्यन्यविषयकमसन्तोष हृत्वा स्वपरिचर्य्यायामेवा[16]ऽसन्तोष विधेहीति । तेन च भगवत्परिचर्यया[17] ज्ञानादप्युत्कृष्टत्वमिति ॥२०॥

---

१ क लागति। २ ख. ऊदहस्तर्को। ३. ख ०गोततु० । ४ ख त्वत्समर्पितराये।
५ ख ०नुत्पादयन्त्याह । ६ ख. ०विचलशील । ७ ख भवदक्ष० । ८ क ०रूपमेक० ।
९ ख ०तस्य । १० ख ०मिषिविमुषितभुवनातोषा । ११ क गुरुगणेनिति । ख गुरुगननेति।
१२ ख गणाया । १३ मिषिण । १४. अधगत । १५ ख ०अवभूतस्त्व ।
१६. ०चार्याया० । १७ ख. चर्याय ।

प्रकटितपरमभक्तिपृथिवीसुखदायी[1], करवरवीणाहरिगुणगायी[2] ।
श्रीरघुवर नारदरूप ! जय जगदीशपते ॥२१॥

प्रकटितेति। हे जगदीशपते नारदरूप श्रीरघुवर ! प्रकटिता परमा भक्तिर्येन स चाऽसौ पृथिवीसुखदायी च पृथिवीसुखदानशील, करे वरवीणया [3]हरेर्भक्तार्त्ति-हारकमत्स्यादिनिजरूपस्य गुणाना गायी गानशीलस्त्व[4] जय । अत्रेद व्यङ्ग्यम्—मह्यमपि प्रेमलक्षणा भक्ति देहीति । तेन च रासानुभावकग्रन्थकरणोत्कण्ठा व्यज्यते । तेन च ग्रन्थस्य प्रेमसाध्यत्वमिति ॥२१॥

क्रतुकलनाय कलावपि विभजसि वेदम्, कृतपुराणधृतभावविभेदम् ।
श्रीरघुवर शुकपितृरूप ! जय जगदीशपते ॥२२॥

पूर्वमृषभाज्ज्ञानप्रार्थन, तदनन्तर प्रेमभक्तेरिदानी ज्ञानसहितप्रेमभक्ति प्रार्थयन्नाह—क्रतुकलनायेति । त्व कलौ कलियुगेऽपि, क्रतूनां[5] कलनाय रचनाय, कृतेषु पुराणेषु धृतो भावस्याभिप्रायस्य विभेदो यत्र कर्मणि तद्यथा तथा, वेद विभजसि । शुकस्य पितुः व्यासस्य रूप यस्य तत्सम्बुद्धिः हे श्रीरघुवर ! त्व जय । अत्र ज्ञानभक्तिसहितशुकजनकत्वेन व्यासस्य ज्ञानभक्तिप्रदानसामर्थ्यं[6] व्यज्यते । तेन च मह्यपपि तदुभय देहीति ॥२२॥

सारासारवियुजमवयन्ति[7] यमेकम्, [8]परिहृतजलजनिजनुरविवेकम् ।
श्रीरघुवर हससुरूप ! जय जगदीशपते ॥२३॥

सारासारेति । हे जगदीशपते हससुरूप श्रीरघुवर ! परितो हृतो दूरीकृतो जलजनेः कमलाज्जनुर्यस्य[9] तस्य ब्रह्मणोऽविवेको येन स त, सारासारयोर्वियुज पृथक्कर्त्तारं, यमेक मुख्यमवयन्ति जानन्ति ज्ञानिन इति शेष । स त्व जय । एतेन हे भगवन् ! ब्रह्मा मम मताचार्यो भवति, तदज्ञाननाशकत्वेनाचार्यस्याप्याचार्यस्त्व-मिति[10] व्यज्यते । तेन च ममाऽप्यज्ञान दूरीकृत्य मद्धृदये रघुनन्दनरासवर्णन शोधयित्वा प्रकटयेति ॥२३॥

---

१. ख. ०दाई । २. ख ०गाई । ३. ख हरेर्भक्तार्त्ती० । ४. ख गाण० । ५. ख. क्रतना । ६ ख. ०समर्थ्यं । ७ ०विधुजमव० । ८ ख. परिहृजल० । ९. ख. ०नर्नुपश्य स । १०. ख. तदज्ञानिनाशकत्वेन चार्यस्याप्याचार्यस्त्वमिति ।

कृतसनकादिकनामनिहतभवजाल, भजननिबन्धनबोधविशाल[1] ।
श्रीरघुवर बालसुरूप ! जय जगदीशपते ॥२४॥

कृतेति । कृतं सनक आदिर्येषां तैर्नामभि सनकसनन्दनसनातनसनत्कुमाररूपै निहतो नाशितो भवजाल ससारजालो[2] येन स, भजनस्य निबन्धनस्तद्रीतिप्रवर्त्तक.[3] बोधेन ज्ञानेन विशाल. विशेषेण शोभमान, ईदृशबालसुरूप श्रीरघुवर ! त्व जय। भजननिबन्धनेत्यनेन पूर्वं चतुर्विंशत्यवतारवर्णनरूप तव भजन मया यथायथ क्रियमाण न भवेत्तर्हि त्वमेव स्वप्रापक कञ्चिदुपाय बोधय । भवति[4] चेन्मत्प्रार्थित सफलयेति व्यज्यते । तेन च भजने कृतेऽपि स्वस्य हर्यप्राप्तिरङ्केति । तेन च त्वयैव सर्वं कार्य्यमिति । तेन च स्वस्य पारतन्त्र्यमिति[5] ।

ईशमहेश्वरपर साकेतविहारी, वरविविधावतारविस्तारी ।
जनविश्वनाथहृदि राम ! जय जगदीश पते ॥२५॥

ईशेति । ईशा[6] प्रतिब्रह्माण्ड ब्रह्मविष्णुशिवास्तेषामाश्रयतया मह पूज्योऽमितकोटिब्रह्माण्डवलितो[7] महाविराट् [अमितकोटिब्रह्माण्डवलितत्वे प्रमाणम्—

ब्रह्माण्डासस्यनाथो यो ददर्शोर्द्ध्वमनाथवत् ।
स्थूलात् स्थूलतम. सोऽपि नाम्ना देवो महाविराट् ॥१॥
प्रत्येकलोमकूपेषु विश्वानि निखिलानि च ।
तस्याऽपि तेपा सख्या च कृष्णो वक्तु न हि क्षम. ॥२॥ इति

ब्रह्मवैवर्त्ते । तस्येश्वरस्तत्कारणभूत पूर्णब्रह्म तत्र प्रमाणम्—"ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुष" इति, तस्मा][8] त्तनुप्रभारूपात् पूर्णब्रह्मण: पर श्रेष्ठप्रकाशिन्, हे जगदीशपते हे राम ! वरविविधावताराणा विस्तारी, साकेतविहारी अयोध्याविहारी, त्व जनविश्वनाथहृदि जय निजोत्कर्षं प्रकटय । अत्र[9] ब्रह्मणस्तनु-[10] प्रभारूपत्वे प्रमाण 'यदद्वैत ब्रह्म यस्य तनुभेति' ब्रह्मोपनिषत् श्रुति ।

एक चाऽपि पर समस्तजगता[11] ज्योतिर्मय कारण,
प्रागन्ते च विकारशून्यमगुण[12] निर्नामिरूपञ्च यत् ।

---

१ ख ०विशाल । २ ख ०जाले । ३ ख ०स्तद्गीतिप्र० । ४. ख भवति ।
५. ख पारतन्त्र्यमिति । ६ ख ईश० । ७. ख. ऽमितिकोटि० । ८ [—] कोष्टबद्धांशस्थाने ख पुस्तके 'तस्येश्वरस्तत्कारणभूत पूर्णब्रह्म तस्मा' इत्ययमश एव दृश्यते । ९ ख. अत्र ।
१०. ख. ब्रह्मणस्तनु- । ११ ख जगत । १२. ख विकारशून्य० ।

तच्छ्रीरामपदारविन्दनखरप्रान्तस्य तेजोऽमल,
प्रज्ञावेदविदो वदन्ति परम तत्त्व पर नाऽस्त्यत ॥

इति । [1]पारमहस्यपरमसिद्धान्तसहितायाम् ।

नखेन्दुकिरणश्रेणीपूर्णब्रह्मैककारणम् ।
केचिद् वदन्ति तस्याश ब्रह्म चिद्रूपमव्ययम् ॥
तदशाग[2] महाविष्णु प्रवदन्ति मनीषिण. ।

इति पद्मपुराणीयवृन्दावनमाहात्म्ये च । अत्रेद व्यङ्ग्यम् — हे भगवन्ननिर्वचनीयतयाऽन्यैरकथनीया[3] निजरहस्यलीला मद्धृदये विद्यमानः स्वयमेव मन्मुखेन वर्णयेति । तेन च तल्लीलाया अपि सर्वोत्कृष्टत्वमिति । वरविविधावतारविस्तारीति विशेपणेऽनुक्तानामपि नारायणादीनामवतारी रघुनन्दन इति भावः । प्रमाण चाऽत्र पद्मपुराणस्य वाल्मीकीयरामायणस्य च वचन यथाक्रमं बोध्यम् । तथाहि—

"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिन ।
दृष्ट्वा राम हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्[4] सुविग्रहम् ॥
ते मर्वे स्त्रीत्वमापन्ना समुद्भूताश्च गोकुले ।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ॥ इति ।

"स्वय नारायणो भूत्वा वैकुण्ठ याति राघव" इति
पुनरेव मया दृष्टो रामो रमता वरः ।
विष्णुरेव स्वय भूत्वा तस्मिन्नास्ते वरासन ॥"

इति च । ननु सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परमात्मन इति नैव प्रकृतिजाः क्वचिदिति 'पूर्णमदः पूर्णमिदमि'त्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः । मीनाद्यवतारा नारायणादयश्च सर्वे नित्या पूर्णा एवाऽतो विविधावतारविस्तारीति पदस्य रघुनन्दन एव मीनाद्यवतारो भूत्वा तत्तत्कार्यं विधाय स्वस्मिल्लीयत इत्यर्थोऽभिप्रेतश्चेत्तर्हि मत्स्यादीनामष्टभुजाना चतुर्भुजाना द्विभुजाना चाऽभिन्नांशरूपाणामनित्यताप्रसङ्ग स्यात् । अन्यच्च—एक एव रामो भावुकैर्भावनानुगुणरूपो दृश्यत इति चेत्तर्हि तद्रूपस्य काल्पनिकत्व स्यात् । किञ्च विविधशब्देन[5] सूचिताना[6] ब्रह्मदुर्गाभैरवादीनां भिन्नाशानामपि वेदपुराणतन्त्रेषु नित्यत्व

---

१ ख. परमसस्य० । २. ख. तदशास । ३. ख ०रकथनी । ४. ख. भोक्त० ।
५. ख. विपर्यशब्देन । ६. ख. सूचिता ।

परत्व जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्तृत्व चोक्तम्[१] । कृते परिकार्यं[२] विधाय श्रीरघुनन्दनलीना भवेयुस्तर्हि तेषामनित्यतया वेदादीनामपि मिथ्याकथनप्रसङ्गः स्यादिति चेत्सत्यम् । यतः साकेते श्रीरघुनाथ[३] एव मीनाद्यवताराणा नारायणादीना च रूपेण [४]स्वकीयद्विभुज राजरूप सेवतेऽत एव तेऽभिन्नाशा साकेतनिवासिश्रीरघुनन्दनसेवकत्वेन भिन्नाशाः ब्रह्मदुर्गाभैरवा[दयो] देवता अपि नित्याः, तस्माद् वरविविधावतारविस्तारीत्यत्राऽयमाशय । साकेते श्रीरघुनन्दन. स्वावरणगतानवतारानाज्ञाप्य[५], कार्यं कारयित्वा पुनस्तदेवावरण प्राप्य, तै सेवा कारयति अथवा त एवावतारा. श्रीरघुनाथाज्ञया स्वेन स्वेनांशेन तत्तद्ब्रह्माण्ड गत्वा तत्तत्कार्य विदधति । तदुक्त शिवसहितायां हनुमन्त प्रत्यगस्त्यवचनम्—

आसीन तमयोध्याया सहस्रस्तम्भमण्डिते ।
मण्डपे[६] रत्नसङ्घे च जानक्या सह राघवम् ॥

मत्स्य कूर्म. किरिर्नैको नारसिंहोऽप्यनेकधा ।
वैकुण्ठोऽपि हयग्रीवो हरि· केशववामनौ ॥

यज्ञो नारायणो धर्मपुत्रो नरवरोऽपि च,
देवकीनन्दन कृष्णो वासुदेवो बलोऽपि च ॥
वृष्णिगर्भो[७] मधून्माथी गोविन्दो माधवोऽपि च ।
वासुदेवोऽपरोऽनन्तः सङ्कर्षण इरापतिः ॥

[८]प्रद्युम्नोऽप्यनिरुद्धश्च व्यूहा सर्वेऽपि सर्वदा ।
राम सदोपतिष्ठन्ते[९] रामादेशव्यवस्थिता ॥

एतैरन्यैश्च ससेव्यो रामो नाम महेश्वर ।
[१०]तेषामैश्वर्यदातृत्वात् तन्मूलत्वान्निरीश्वर[११] ॥

इन्द्रनामा स इन्द्राणा पति. साक्षी गति. प्रभु ।
विष्णु स्वय स विष्णूना पतिर्वेदान्तकृद्विभु ॥
ब्रह्मा-स ब्रह्मणा[१२] कर्त्ता[१३] प्रजापतिपतिर्गति ।
रुद्राणा स पती रुद्रो रुद्रकोटिनियामक. ॥

चन्द्रादित्यसहस्राणि रुद्रकोटिशतानि च ।
अवतारसहस्राणि शक्तिकोटिशतानि च ॥

---

१ क नास्ति । २. ख स यदि कार्यं । ३. ख रघुवरनाथ । ४ ख स्वकीयं । ५ ख स्वावरण० । ६ ख मण्डप । ७ ख. पृश्निगर्भो । ८. क. प्रद्युम्नोऽनिरुद्धश्च । ९ ख. सद्योतिष्ठते । १०. ख तेषामैसूर्य० । ११. तन्मूत्रत्वा० । १२. ख ब्राह्मण । १३ ख. वर्त्त ।

ब्रह्मकोटिसहस्राणि दुर्गाकोटिशतानि च ।
महाभैरवकालादिकोट्यर्बुदशतानि च ॥

गन्धर्वाणां सहस्राणि देवकोटिशतानि च ।
सभा[1] यस्य निषेवन्ते स श्रीराम इतीरितः ॥

इति । श्रुतिश्च 'देवाना पूरयोध्या' तत्पद्ब्रह्ममया दिव्यरत्नकोशाढ्या तस्यां नित्यमेव सीतारामयोर्विहारस्थलमस्तीति अथर्वणे उत्तरार्द्धे ॥२५॥

मीनाद्या दधते तनूर्दलयते दैत्यान् सतो रक्षते,
धर्मानाचरते स्मृती रचयतेऽधर्मं निराकुर्वते ।
भक्तान् भावयते यशो जनयते बाणान् धनुर्बिभ्रते,
साकेतप्रमदावने विहरते रामाय तुभ्य नमः ॥१०॥

[2]उक्तावताराणामवतारिणश्च वर्णनमुपसहरति मीनाद्या इत्यादिना । मीनाद्यास्तनूर्दधते पोषयते । शेष स्पष्टम् । मीनाद्या दधते तनूरिति विशेषणेनाऽवतारा उक्ताः । शेषैर्विशेषणैः कर्म्मण्युक्तानि । अत्र [3]वर्त्तमानकालबोधकशतृप्रत्ययेन नामरूपलीलादीना नित्यता व्यञ्जिता । तेन च तेषामपि तद्रूपत्वमिति ॥१०॥

ललितालीगणमण्डित रसपण्डित हे !
चपलचटुलमणिमाल जय जय राम हरे ॥१॥

अथाऽवतारिण श्रीरघुनन्दन स्तौति ललितेति । ललिताः याः आल्यः सख्यस्तासां यो गणः समूहस्तेन मण्डितः भूषितः तत्सम्बुद्धिः, रसे प्रकृतत्वाच्छृङ्गारे[4] पण्डितस्तत्सम्बुद्धि , चपला चटुला मनोहरा च मणीना माला यस्य तत्सम्बुद्धिः । एतेन रास कुर्वतो रघुनन्दनस्येय स्तुतिरिति व्यज्यते । तेन च कविमानसेऽन्यलीलाभ्यो[5] रामलीलाया[6] प्राधान्यम् । ईदृश हे हरे ! भक्ताना रासाननुभवरूपक्लेशनाशनेत्यर्थः । हे राम ! रमन्ते सख्योऽस्मिन्निति रामः । एतेनाऽनेककोटिसखीरमणशीलत्व व्यज्यते । तेन च तस्य दक्षिणनायकत्वम् । अथवा रमन्ते ब्रह्माण्डानि यत्र अनेककोटिब्रह्माण्डाधारेत्यर्थः । त्व जय जय निजोत्कर्षं प्रकटय । जय जयेत्यादरे वीप्सा । अत्र पूर्वगीतध्वनिर्ज्ञेय ॥१॥

---

१ ख. सभा । २. ख. उक्ताउत्तराणा० । ३ ख वर्त्तयान० ।
४. ख. प्रकृतत्वाच्छरे । ५. ख० ऽन्यलीभ्यो । ६. ख. रागलीलाया ।

क्षितिनृपमण्डलमण्डन खलखण्डन हे !
समुद्दण्डकोदण्ड जय जय राम हरे ! ॥२॥

क्षितीति। क्षितौ नृपाणां मण्डलं समूहं मण्डयति भूषयति तत्सम्बुद्धि, खलान् दुष्टान् खण्डयतीति तत्सम्बुद्धि, सम्यगुद्दण्डः कोदण्डो धनुर्यस्य तत्सम्बुद्धि.। क्षितिनृपमण्डलमण्डनेत्यनेन हे भगवन्! ममाऽपि खलव्यतिरिक्तनृपान्तर्गतत्वेन मण्डनं करिष्यस्येवेति। तेन च मन्मुखोद्गतग्रन्थमण्डनं कुर्विति व्यज्यते। [समुद्दण्डकोदण्ड इत्यत्र रघुनन्दनस्य सदा रक्षोद्युक्तत्वम्। तेन च ममाऽपि सर्वथा रक्षा विधेहीति प्रार्थना व्यज्यते][1] ॥२॥

हतदूषण खरदूषण भवभूषण हे !
[2]दशमुखगजमृगराज जय जय राम हरे ! ॥३॥

हतेति। हतौ दूषणदोषरूपौ[3] खरदूषणनामानौ राक्षसौ येन तत्सम्बुद्धि, भवस्य संसारस्य भूषणमलङ्कारस्तत्सम्बुद्धि., दशमुखो रावणः स एव गजस्तत्र[4] यो मृगराजः सिंहस्तत्सम्बुद्धि., ईदृश। अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—यथा रावणसम्बन्धिनो दूषणादीन् हत्वा, दिव्यरूपं दत्वा रावणो निजसेवको विहितस्तथा खरदूषणमदृशान्मम मनसो भ्रमादिदोषान्नाशयित्वा दशेन्द्रियाणि मुखानि निर्गमद्वाराणि भुक्तिद्वाराणि वा यस्य तद्दिव्यरूपं विधाय निजरूपासक्तं[5] कुर्विति। तेन च बहुसाधनसम्पत्तौ सत्यामपि भवत्कृपां विना मनसः[6] शुद्धिर्न जायत इति ॥३॥

सकलचराचररोचन हृतशोचन हे !
मुनिकुलकुशलनिदान जय जय राम हरे ! ॥४॥

सकलेति। सकलं यच्चराचरं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् तद् रोचयति प्रकाशयति इति सः तत्सम्बुद्धि, अथवा सकलस्य चराचरस्य रोचनमभिप्रीतिर्यस्मिन्, हृतं शोचनं शोको येन तत्सम्बुद्धि, मुनीनां[7] मननशीलानां[8] यत्कुलं समूहस्तस्य कुशलस्य भुक्तिमुक्तिरूपस्य निदानं आदिकारणं, ईदृश। अत्र सकलेत्यादिपदेन हे भगवन्! सकलचराचरप्रकाशकस्य तव मद्धृदये ज्ञानप्रकाशनमतिसुकरमिति। तेन च मया स्वीयरहस्यवर्णनं कारयेति व्यज्यते ॥४॥

---

१ [—] कोष्ठान्तर्गतोऽशो नाऽस्ति ख पुस्तके। २ एतत्पादस्थाने क.पुस्तके 'मुनिकुलकुशलनिदान जय जय राम हरे!' इत्यस्ति। ३. ख दूषणे दोषरूपौ। ४. क गतस्तत्र। ५ ख ०शक्तं। ६ ख मानसः। ७ ख. मुनाना। ८ ख मुनन०।

सान्तानकजनचन्दन रघुनन्दन हे !
बहुकृतललितविलास जय जय राम हरे ! ॥५॥

सान्तानकेति । सान्तानके साकेते[1] ये जनास्तेषा चन्दन आह्लादक, यथा चन्दनो मलये स्वसमीपस्थान्[2] वृक्षाश्चन्दनीकरोति तथा त्वमपि साकेतजनान् स्वसदृशान् करोषीति भावः । हे रघुनन्दन ! बहव. कृता ललिताः मनोहराः विलासाः येन तत्सम्बुद्धि । अत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यथाक्रम गुप्तप्रकटलीले[3] व्यज्येते । तेन च तयोरानन्दरूपतेति चरमविशेषणेन च हे भगवन्निद मत्कृत काव्यमपि ललितविलासवद् विधेहीति व्यज्यते ॥५॥

वरविलसितनखचन्दिर सुखमन्दिर हे !
श्रीमुखकमलमिलिन्द जय जय राम हरे ॥६॥

वरेति । वरा श्रेष्ठा. विलसिता. शोभिता नखरूपिणश्चन्दिराश्चन्द्रमसो यस्य तत्सम्बुद्धि, नखचन्द्राणा वरत्व च निष्कलङ्कत्वेन[4] ज्ञातव्यम्, सुखस्य मन्दिर अथवा सुख सुखरूप ब्रह्म तदेव मन्दिरमयोध्यारूप निवासस्थान[5] यस्य तत्सम्बुद्धि, तत्र प्रमाणम्—'अयोध्या च पर ब्रह्मेति' । श्रियो जानक्या मुखमेव कमल तत्र मिलिन्द । अय भावः—यथा मधुकर. कमलं सेवते तथा भवाननवरतावलोकनेन जानकीवदनमिति । 'श्रिय श्रीश्च भवेदग्र्येति' वाल्मीकीयरामायणोक्तेः श्रीपद जानकीवाचकम् । अथ प्रथमेन विशेषणेन ध्यानिना हृदयान्धकारनिवर्त्तकत्वं, द्वितीयेन त्वन्निवासाद्धृदयस्य[6] सुखरूपत्वं, तृतीयेन तदनुकूलत्व रसग्राहकत्व च । तेन च मम काव्यकुसुमस्य रस गृहाणेति[7] व्यज्यते ॥६॥

पदपद्मे प्रणतानव जितदानव हे !
परमानन्दसुरूप जय जय राम हरे ! ॥७॥

पदपद्म इति । हे जितदानव ! तव पदपद्मे प्रणतानस्मान् भक्तानव रक्ष । परमानन्द[8] एव शोभन रूप यस्य, ईदृश हे हरे राम ! जय । अत्र प्रथमेन विशेषणेन रघुनन्दनस्य त्रैलोक्यरक्षणसामर्थ्यम् । तेन च हे भगवन् ! तव चरितवर्णने[9] दानवसदृशान् विघ्नान्[10] विनाशय मा रक्षेति व्यज्यते । द्वितीयेन ममोक्तिमपि परमानन्दरूपं विधेहीति व्यज्यते ॥७॥

---

१. ख ते । २ ख स्वसमी० । ३. ख. ०प्रगटलीले । ४. ख. निष्कल० । ५ ख निसस्थान । ६ ख त्वन्निवासा हृदयस्य । ७. क गृहाणेति । ८ ख. परमान । ९. ख. वर्णनि । १० ख विघ्नान् ।

विश्वनाथजनरक्षणसुविचक्षण हे !
समनिगमागमगीत जय जय राम हरे ॥८॥[1]

विश्वनाथेति । विश्वनाथनामा चाऽसौ जनस्तत्र भक्तस्य रक्षणे सुविचक्षणेति निपुणस्तत्सम्बुद्धि, अथवा विश्वनाथाश्च ते जना ब्रह्मादयश्च तेषां रक्षणे सुविचक्षण, समे सर्वे ये निगमा वेदा., आगमाः शास्त्राणि, तैर्गीतस्तत्सम्बुद्धिः । अत्र काव्ये समेत्यादिना सकलनिगमागमाविरुद्धमेव मन्मुखेन कथयिष्यसीति । तेन ग्रन्थस्य सर्वादरणीयत्व व्यज्यते । इहाऽष्टपद्याऽस्य नायकस्य सुविचक्षणेत्यनेन रक्षणेऽनायासता व्यज्यतेऽत्र गुणा अप्युक्ता. । तथाहि—ललितालीगणमण्डितेति पदेन काकुत्स्थम्, रसपण्डितेति पदेन वैदग्ध्यम्, क्षितिनृपेत्यादिपदेन महाभाग्यत्व-मर्थवत्त्वञ्च, दशमुखेत्यादिपदेन तेजस्विता, भवभूषणेति पदेन सौन्दर्यम्, हृतशोचनेति पदेन धार्मिकत्वम्, रामेति पदस्य द्वितीयार्थेन धुरन्धरता, मुनिकुलेत्यादिपदेनो-दारता, रघुनन्दनेति पदेन महाकुलीनता, समनिगमेत्यादिपदेन कीर्त्तिरिति ॥८॥

अतिचञ्चलकामिनीकटाक्षाकलनाकूतकलाकुलस्वरूपा ।
पररासविलासभासिनो वोऽभिमत दाशरथेर्ददातु[2] दृष्टि. ॥११॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार-श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते[3] सङ्गीतरघुनन्दने
मङ्गलाचरण नाम प्रथम सर्ग ॥१॥

अतिचञ्चलेति । परैरुत्कृष्टै रासविषयकविलासैर्भासिनः[4] शोभमानस्य[5] दाशरथेः श्रीरघुनन्दनस्य दृष्टि व. युष्मभ्यमभिमत ददातु । कीदृशी दृष्टि. ? अतिचञ्चलाः । ये कामिनीनां कटाक्षास्तेषामाकलनाया स्वीकारे आकूतकलया शृङ्गाररसीयचेष्टाविशेषेण आकुल स्वरूप यस्या. सा रघुनाथप्रकाशकत्व रासस्य[6] परत्वे हेतु । अत्राऽतिचञ्चलेत्यादिना रघुनन्दनस्य सखीना च रासोत्कण्ठा व्यज्यते । तेन च पूर्णशृङ्गाररसोदय इति ॥११॥

इतिः सिद्धिश्रीमहाराजाधिराजश्रीमहाराज-श्रीराजाबहादुररामचन्द्रकृपापात्राधिकारि-
विश्वनाथसिंहदेवकृतायां व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकाभिधायां
सङ्गीतरघुनन्दनटीकायां मङ्गलाचरण नाम प्रथम सर्ग[7] ॥६॥

---

१. क पुस्तकेऽन्तिमेयमष्टमपदी नैव दृश्यते, नाऽस्ति च तत्र तट्टीका । २ ख ०र्दातु ।
३ ख. श्रीमहाराजकुमार श्रीबाबू साहेब श्रीविश्वनाथसिंहदेवकृते । ४. ख भासिना ।
५ ख शोभमनस्य । ६ ख. रामस्य । ७ ख. इति सिध श्रीमहाराजाधिराजश्रीमहाराजा-बाहादुररामचन्द्रकृपापात्राधिकारविश्वनाथसिहजूदेवकृतायां व्यग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीका सङ्गीतरघुनन्दन प्रथम सर्ग. ॥१॥

[अथ द्वितीयः सर्गः]

सुखदसमीरे सरयूतीरे विलसति ललितनिलयनम् ।
काञ्चनशाल मणिमयजाल मन्ये मदनमुदयनम् ।।१।।

एवं मङ्गलाचरण विधाय सङ्गीतरघुनन्दन काव्य प्रकटयति[1] । सरयूतीरे भवनरास वर्णयिष्यन् सक्षेपतो भवनवर्णन करोति सुखदेत्यादिना । सुखदः समीरो वायुर्यत्र तत्र सरयूतीरे यल्ललितनिलयनं सुन्दरभवन, विलसति शोभते, तन्मदनस्य कामस्य मुदयनमानन्दगृह मन्ये । कीदृश तत् ? काञ्चनस्य सुवर्णस्य शालः[3] प्राकारो[4] यस्य तत्, पुनश्च मणिमयानि जालानि गवाक्षा. अथवा धीवर-जालाकारचित्ररचनाविशेषा यत्र तत् । अत्र विलसतीति वर्त्तमानक्रियया धाम्नो नित्यत्वम् । तेन च रासलीलाया नित्यता व्यञ्जिता । सुखदपदेन शीतलत्व[5] मन्दत्व सुगन्धित्व च पवनस्य व्यञ्जितम् ।।१।।

चन्दनचर्चितकुसुमसमर्चितमहोपरमरमणीयम् ।
चन्द्रसुचुम्बितचन्द्रकान्तचयचलितसलिलकमनीयम् ।।२।।

चन्दनेति । पुनः कीदृश तत् ? चन्दनेन[6] चर्चिता लिप्ता कुसुमैः सम्यगर्चिता पूजिता आस्तीर्णेति यावत्, सा चाऽसौ मही च तया परमरमणीयम्, पुनश्च कीदृशम् ? चन्द्रेण सुष्ठु चुम्बितः स चाऽसौ चन्द्रकान्तमणीना चयः समूहस्तस्माच्चलितेन वहता सलिलेन कमनीयम् । अत्र कुसुमसमर्चितपदेन तत्र कोमलास्तरणनैरपेक्ष्य[7] व्यज्यते । तेन च रासकृतियोग्यतेति । चन्द्रसुचुम्बितेत्यादिपदेन आसेकनैरपेक्ष्य-मास्तीर्णकुसुमानामम्लानत्व[8] च व्यञ्जितम् ।।२।।

मरकतगोमुखनलिकानिर्गतकुल्याकुलजललाभम्[9] ।
सुखसदन श्रमकदन सरसीकलितकमलललिताभम् ।।३।।

मरकतेति । पुनः कीदृशम् ? मरकतस्य हरिन्मणेर्या गोमुखनलिका गोमुखा-काराणि जलयन्त्राणि ताभ्यो निर्गतस्य कुल्याकुलेषु त्रिमाल्यसरित्समूहेषु जलस्य लाभो यस्मिस्तत्, पुनः कीदृशम् ? सुखसदन सुखस्य निवासस्थान अथवा

---

१. ख. प्रकटयन् । २. ख. नास्ति । ३. ख. शाला । ४ प्रकारो । ५. ख. शीलत्व ।
६. ख. चन्दने । ७. ख कोमलारण० । ८. ख. ०कुसुमानामलानत्वं ।
९. क.ख ०कुल्माकुलजल० ।

सुखरूपमेव सदन, पुन. कीदृशम् ? सरसीषु तत्र विहारार्थे[1] निर्मिततडागेषु कलितानि व्याप्तानि कमलानि तैर्लन्मिता आभा शोभा यस्य तत्। कुल्याजलेत्यादिना तत्र भवने वाटिका व्यज्यते, तेन च तस्य समस्तशृङ्गारोद्दीपनविभावाधिकरणत्वमिति ॥३॥

यदधिकरतिरसपतिरपि[2] कुरुते पश्यन्ननिशनिवासम् ।
विश्वनाथनाथोऽपि ससीतस्तनुते रासविलासम् ॥४॥

यदिति । रसपति शृङ्गारोऽपि यद्गृह पश्यन्नधिका रतिः प्रीतिर्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा, अनिशनिवास निरन्तरवास कुरुते । विश्वनाथस्य महादेवस्य मम वा नाथ· श्रीरघुनन्दनोऽपि यद्गृह पश्यन् सीतया· सहित रासविलास तनुते विस्तारयति । यदधिकेत्यादिनाऽस्य शृङ्गारगृहादप्याधिक्य तेन चाऽनुपमत्व व्यज्यते । विश्वनाथेत्यादिना कदाचिदनिच्छोरपि श्रीरघुनन्दनस्य रासकारयितृत्व[3] भवनस्य व्यज्यते । तेन चाऽस्याऽन्येभ्योऽपि रघुनाथगृहेभ्य आधिक्यमिति ॥४॥

गृहे तत्र स्वैर सह सहचरीभिश्च रमया,
चिर रासक्रीडाप्रणयिनि रमेशे विहरति ।
सखी काचिन्नृत्यश्रममपनिनीषु[4] स्थितवती,
बहिर्वामावारादवददपरामात्मसदृशीम् ॥१॥

गृहे इति । तत्र गृहे रासक्रीडाया प्रणयिनि[5] प्रीतिमति,[6] रमेशे श्रीरघुनन्दने, सहचरीभि· सखीभि., रमया श्रीजानक्या च सह, चिर बहुकाल, स्वैर विहरति विहार कुर्वति सति, नृत्यस्य[7] श्रममपनिनीषुरपनेतुमिच्छु, वामावारात्[8] वनितासमूहाद्, बहिः स्थितवती काचित् सखी, आत्मसदृशी श्रमितामपरा[9] सखीमवदत् । रमयेतिपदेन रमेश इति पदेन च विहारे सन्तोषाभावो व्यज्यते । तेन च सामर्थ्यातिशय इति ॥१॥

रासे विलसति रसिकशिरोमणिरवलोकय मृगनयने !
[10]रसपतिमण्डितरोचिरखण्डितरसपण्डितसुखचयने ॥१॥

ईदृशानन्दजनकरासत. श्रमो मा नि सारितवान् इति श्रमनिन्दा व्यञ्जयन्ती

---

१ ख विहारार्थ । २ ख ०रविकुरुते । ३ ख रासकारपितृत्व । ४. क. ०श्रममनिनीषु ।
५. ख. प्रणयिमि । ६. ख श्रीतिमति । ७. क. नृपस्य । ८ ख वामाचारात् ।
९ क. ०मपरा. । १०. क. रसपण्डितमण्डित० ।

यद्वा यदि श्रमो मां निःसारयेत्तदा सम्पूर्णरासस्याऽपूर्वशोभां कथं पश्येयमिति श्रमस्तुतिं व्यञ्जयन्ती सखी वर्त्तमानरासमङ्गुलीनिर्देशेन वर्णयति—रास इत्याद्यष्टपद्या रास इति । हे मृगनयने ! त्वं विलोकय, रसिकानां शिरोमणिः श्रीरघुनन्दनो रासे विलसति शोभते । कीदृशे रासे ? रसपतिना शृङ्गारेण मण्डितः स चाऽसौ रोचिषा दीप्त्या[1] अखण्डितश्च सः, रसपण्डितस्य श्रीरघुनन्दनस्य अथवा रासे ब्रह्म तत्र पण्डितानामर्थाद् ब्रह्मनिष्ठानां सुखचयनं सुखसमूहो यस्मिन्सः, रसपतिमण्डितरोचिरखण्डितश्चासौ रसपण्डितः सुखचयनश्चसः तस्मिन् । रसपतीत्यादिपदे द्वितीयविशेषणेऽयं भावः—अनेकविधुवदनानां प्रकाशच्छटाभिर्मणीनां प्रकाशाधिक्यमिति[2] । रसपण्डितेत्यादिविशेषणेन ब्रह्मनिष्ठा अपि ब्रह्मानन्दं त्यक्त्वा[3] रासस्मरणानन्दं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते । तेन च रासस्य ब्रह्मानन्दादप्यधिकत्वम् । अत्र कविनिबद्धवक्तृवैशिष्ट्य[4]-जन्यपदप्रधानार्थशक्त्युद्भववस्तुना वस्तुध्वनिः । रासलक्षणं **भागवतसन्दर्भे**—

> "नटैर्गृहीतकण्ठीनामन्योन्यात्तकरश्रियाम् ।
> नर्त्तकीनां भवेद् रासो मण्डलीभूय नर्त्तनम् ॥" इति

स्कन्दपुराणीयकोशलखण्डे च—

> तासां मनोमानविदासहाभिस्तेनेह तेने[5] भुवि हर्षकारी ।
> श्रीरङ्गभेदो भुवि रासनामा रामेण तासां सुमनोहरेण ॥
> यत्राऽऽस रामो रणरङ्गमूर्त्तिः स रासनामा भुवि केलभेद" ॥इति॥१।

कीरकेकिकोकिलकोलाहलऋतुकुलललितविलासे ।
कुरबकबकुलकेतकीकैरवकुन्दकदम्बविकाशे ॥२

रासशोभाया अनिर्वचनीयत्वेऽपि यथामति वस्तुमात्रं कथयति कीरेति । कीराश्च पालिताः शुकाः केकिनश्च तथा मयूराः कोकिलाश्च ते तेषां कोलाहलो यस्मिन् अथवा तेषां कोलाहल इव कोलाहलो यस्मिन् स तस्मिन् ऋतुकुलस्य ऋतुषट्कस्य ललितो विलासो यस्मिन् स तस्मिन्; कुरबकाश्च बकुलाश्च केतक्यः कैरवाणि च कुन्दानि च कदम्बाश्च ते तेषां विकासः फुल्लनं यस्मिन् स तस्मिन् । एते तरवोऽन्येषां चोपवनतरूणामुपलक्षकाः । कीरादीनां कोलाहलस-

१. ख. दीप्ता । २. ख ०मति । ३. ख. सत्यत्वा । ४. क ख. वक्तृवैशिष्ट्य । ५. ख नास्ति ।

दृशस्तु तत्र सखीना मधुरगानवाद्यभूषणकोलाहलो भवति । ऋतुकुलेत्यादिविशेषणेन यदृतुगेय रागमालपति स एवर्त्तुरुदेतीति व्यज्यते । तेन च सखीना गाने प्रावीण्यातिशयो व्यज्यते ॥२॥

विलसितविपुलपुलकविधुवदनावल्गुविनोदविचित्रे ।
चकितचकोरचक्षुरिह चन्द्र चुम्बति चारुचरित्रे ॥३॥

विलसितेति । विशेषेण लसिताना विपुलाः[1] पुलका रोमाञ्चा यासा विधुवदनाना वल्गुभिर्मनोहरैः विनोदः क्रीडाभि. विशेषेण चित्रे आश्चर्यभूते, चारूणि चरित्राणि यस्मिस्तस्मिन्निह रासे, चकितमाश्चर्यित च तच्चकोराणा चक्षुश्चन्द्र चुम्बति अत्यादरेण पश्यतीत्यर्थ । विलसितेत्यादिपदेन तत्र कस्याश्चिदपि सापत्न्य नाऽस्तीति व्यञ्जितम् । तेन चाऽत्यानन्द इति । तत्राऽनेकविधुवदना विलोक्य चकितश्चकोर इत्यर्थः । चुम्बतीति पदेन हे मित्र ! भवता[1] कलङ्क साधु धृत[2] । स न धृतश्चेत्तर्हीह तव परिचय कथ स्यादिति व्यज्यते । तेन च सखीवदनाना पूर्णचन्द्राच्छोभातिशय इति । अत्र कविनिबद्धप्रौढोक्तिजन्यलक्षणामूलकोऽर्थशक्त्युद्भवो वस्तुना वस्तुध्वनि ॥३॥

गायति काचन नृत्यति काचन रमयति काचन रामम् ।
काऽपि च नटयति काऽपि च घटयति काऽपि च पटयति कामम् ॥४॥

गायतीत्यादि । काऽपि च सखी राम नटयति नर्त्तयति, काऽपि च सखी घटयति, तेन नृत्यविषयिणी चेष्टा कारयति । अय भावः—हे प्रियतम ! रासक्रीडायां तव स्वाम्य न भवति, त्वयाऽप्यस्मत्सङ्गे नृत्यतामिति । काऽपि च काम यथेच्छं पटयति प्रवीणयतीत्यर्थः । शेष स्पष्टम् । एतेन सर्वासा स्वाधीनपतिकात्व व्यज्यते । तेन च श्रीरघुनन्दनस्याऽतिरसिकत्वमिति ॥४॥

जितविधुरघुवरवदनविकाशितवदना काऽपि नटन्ती ।
अकलि कलानिधिदर्शनमुद्रितमुखकमलानि हसन्ती ॥५॥

जितेति । जितो विधुर्येन तत्, तच्च तद्रघुवरवदन तत्, तेन विकाशित वदनं यस्या सा, काऽपि सखी नटन्ती नृत्यन्ती सती, कलानिधिदर्शनेन मुद्रितानि[3] मुखानि येषा तानि कमलानि हसन्तीव, अकलि विचारिता सखीभिरिति शेष. । अत्र हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षया हे कमलानि ! यन्निरीक्ष्य यूय मुद्रितानि भवथ । स

१ ख भता । २. धृता ३. क. नास्ति ।

चन्द्रोऽपि येन रामचन्द्रमुखचन्द्रेण जितो मुद्रितो भवति, त[1] निरीक्ष्य विकासिता-नामस्मदीयमुखकमलाना समतेच्छा युष्माकं वृथैवेति तस्या अभिप्रायो व्यज्यते। तेन च सखीनां चातुर्य्यातिशय इति। अत्र वाच्यवैशिष्टयजन्यः पदप्रधानोऽर्थ-शक्त्युद्भव उत्प्रेक्षालङ्कारेण वस्तुध्वनि. ।।५।।

रमणीमण्डलमिह कुण्डलितं नृत्यति गतिसङ्गीतम् ।
गायति सरति सीतया साकं श्रीरामो रसगीतम् ।।६।।

रमणीमण्डलमिति। इह रासे, कुण्डलित हस्तेन हस्त गृहीत्वा कुण्डलवदा-चरित, रमणीमण्डल गत्या सङ्गीत नृत्यति, श्रीरामः सीतया साकं सरति, सप्रीति यथा भवति तथा रसस्य शृङ्गारस्य गीत शृङ्गाररसानुभावकं गीतमित्यर्थः, गायति। अत्र सीतया साकमिति वाक्येन रघुनन्दनेन सह विहरन्तीरन्याः सखीरालक्ष्याऽपि श्रीजानक्या. मत्सराभावो[2] व्यज्यते। तेन च तस्या[3] उत्तम-स्वकीयात्वमिति ।।६।।

मलयजलेपितललितकलेवरवलितवेणुवनमाली ।
चलदलकालिविलोकनपुलकितसकलालीगणशाली ।।७।।

अथ श्रीरघुनन्दनं विशिनष्टि मलयजलेपितेत्यादिना। मलयजेन लेपितं ललित सुन्दर कलेवर देहो यस्य स., वलित. सप्तस्वरमूर्च्छितो वेणुर्यस्य सः, स च स· स चाऽसौ वनमाली चेति विशेपणत्रयस्य कर्मधारयः। वेणुधारणमुक्त लघुकोशलखण्डे—

"आजुहाव स सीतेश. सर्वास्ता. जगदीश्वरः ।
गानेन वेणुना साकं सर्वचित्तापहारणेति ।

पुनश्च कीदृश ? चलन्ती या अलकानां चूर्णकुन्तलानामालि पङ्क्ति, तस्या विलोकनेन पुलकितो[4] रोमाञ्चितो य आलीना सखीना गणः समूहस्तेन शाली शोभित। मलयज-लेपितेति पदेन माधवमासिकरासो व्यञ्जित.। तेन च मासि मासि रासो भवतीति। उक्तञ्च बृहत्कोशलखण्डे—

हेमन्तः शिशिरः शरच्च नितरा रामस्य नित्यप्रिया,
सीतायाश्च वसन्त आत्मविभवैः प्रावृण्निदाघोऽपि च ।
हेमन्तादिषु सम्भवन्ति विविधा रासाश्च रामप्रिया,
सीतायाः कुसुमाकरादिषु च ते स्वेच्छानिबद्धा अपि ।।इति।।

---

१ ख नास्ति। २. ख. मत्सरभावो। ३. क. तस्य। ४. ख. पुलकिता।

अत्र चलदलकालोत्यादिपदेन कस्याश्चिद् गोप्यक्रियाया[1] स्मरणं व्यञ्जितम्। तेन तस्याऽतिसामर्थ्यमिति ॥७॥

वीणामिलितरेणुरणितश्रुतिरघुवरगीतसुवर्णे ।
विश्वनाथ इति वदति कामिनी मुह्यति निपतति कर्णे ॥८॥

वीणेति। वीणासु मिलित वेणो रणित शब्द. श्रुतयश्च सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धा यस्मिन्, स चाऽसौ रघुवरगीतस्य सुवर्णं शोभनोऽक्षरश्च तस्मिन्, कर्णे निपतति सति कामिनी मुह्यतीति। विश्वनाथो महादेव. कविर्वाऽनुभूय वदति। कामिनीकर्णे वर्णे इति जातावेकवचनम्। मुह्यतीत्यनेन हे सखि ! त्वमपि मोहं प्राप्ता, किं वा मदुक्तिं शृणोषीति व्यज्यते। विश्वनाथ इति वदतीत्यनेन श्रीरघुनन्दनरामीय-सख्युक्त्येदं सङ्गीतरघुनन्दनं नाम काव्यं यदा-यदा लुप्तं भवति तदा-तदा श्रीरघुनन्दन एव मन्मुखात्प्रकटयतीति व्यज्यते। तेन चाऽस्य काव्यस्याऽनादिसिद्ध-त्वमिति ॥८॥

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंह-कृताया
व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकाया द्वितीय सर्ग ॥२॥[2]

[अथ तृतीयः सर्गः]

[मालतीलवङ्गवल्लय., कुसुमिता. किशलयसम्भारनता कूजन्मधुमत्तकोकिला गुञ्जत्षडङ्घ्रिनिकरा शीतलमन्दसुगन्धिसमीरणोल्लासिता· पादपालिङ्गनोत्सुका नितान्तकान्ताभिसरणोद्यता वनिता इव लता यत्र विलसन्ति तस्मिन् वसन्तागमे वनोपवनवाटिकासु विहरति वलयितवधूव्रजवलितविलाससमुल्लासितमानसे मान-शोकापनोदनचतुरे मनोनन्दन इव जनकनन्दिनी [सहिते] श्रीरघुनन्दन आलपति युगलप्रेमपरिपूर्णो विश्वनाथो वसन्तरागमिमम्—स स नि नि ध ध गम धध नि सास ग ग रि ससनिधमनी धा प मागा इति ॥१॥][3]

---

१. ख. गोप्यप्रियाया । २. ख इति सिद्ध. श्रीमन्महाराजाधिराजा श्रीमहाराजाश्रीराजा-बहादुरसीतारामचन्द्रकृपापात्राधिकार—विश्वनाथसिंहकृताया व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकाया द्वितीय सर्गः ॥२॥ श्रीमते रामानुज । ३ [—] कोष्ठबद्धोऽयमश. क. पुस्तके नाऽस्ति ।

अयं गद्यप्रबन्ध इति । प्रबन्धलक्षण सङ्गीतशास्त्रे ज्ञेयम् । आदरेण शृण्वन्तीं ज्ञात्वा पुनराह—मालतीत्यादीना[1] सञ्जातानि[2] कुसुमानि यासु ताः, किशलयाना सम्भारेण नता: नम्रा:, कूजन्तो मधुना मकरन्देन मत्ता. 'कोकिला: यासु ताः[3]', गुञ्जन्तः षडङ्घ्रीणा भ्रमराणा निकरा: समूहा यासु ता., शीतलो मन्दः सुगन्धिः स चाऽसौ समीरणो वायुस्तेनोल्लासिता:, पादपाना[4] वृक्षाणामालिङ्गनायोत्सुका[5] उत्कण्ठिता· नितान्तमत्यर्थं कान्तानामभिसरणायोद्यता वनिता इव मालतीनां लवङ्गानां च वल्लय., अन्याश्च लता यत्र विलसन्ति शोभन्ते, तस्मिन् वसन्तागमे वनोपवनवाटिकासु वलयितेन वलवदाचरितेन वधूना व्रजेन समूहेन वलितो वृद्धिं गतो यो विलासस्तेन समुल्लासितमुत्साहित मानस यस्य तस्मिन्, मानशोकस्याऽपनोदन दूरीकरण तत्र चतुरे, मनोनन्दन. कन्दर्पस्तत्सदृशे, जनकनन्दिन्या सहिते, श्रीरघुनन्दने विहरति सति, युगलस्य श्रीजानकीरघुनन्दनरूपयुगलस्य प्रेम्णा परिपूर्णो विश्वनाथः सखीरूपेण प्राप्तो महादेव, अथवा रासगतरघुनन्दनसेवायोग्यशरीरेण रासमण्डलस्थित. कवि, इम वसन्तरागमालपति । इम कमित्याकांक्षाया-[6] माह—शगनिनिधध गमधनिशाश ग गरि शशनि धमनी धापमागा इति । [अस्यार्थोऽपि—सेन सह स्वरा. ससास्तेषा नो बन्धोऽस्त्यस्मिन्निति, 'नः पुमान् सुगते वन्धे' इति मेदिनी, ससनी रासस्तस्मिन् धो धर्मो गानादिप्रावीण्य,

'धो ना धर्मे कुवेरे च क्लीवन्त वसुनि त्रिषु ।
धो धा च ब्रह्म नि ख्यातो धातु स्याद्धारकेऽपि च ॥'

इति मेदिनी । त धरतीति धधः सखीगणास्त गच्छति प्रवर्त्तकत्वेन प्राप्नोतीति धध आचार्यं जानकी त प आप सः धमनो गीतज्ञः धमन. शब्दः । अत्रयु प्रत्ययस्य णित्व निपात्यते, सोऽस्याऽस्तीति प्रशस्तगीतवान् श्रीरघुनन्दनः । अत्र यत्तच्छब्दयोरध्याहार:। कीदृशः ? इधा-इ काम धुनोति स्वच्छविच्छटया तिरस्करोतीति इधा कामजेता श्रीरामचन्द्रः, औणादिकोऽन्; यद्वा इ कामं दधाति योजयतीति इधा-सखीकामपूरक इत्यर्थ:; कन्; पुन की० मागा माया जानक्या ग गीत, ग च गा तस्मिन्नित्यनेकार्थध्वनिमञ्जरी, तेन अनिति चेष्टते नृत्यति मागा; यद्वा मा च ग च मागे, ताभ्यां सहाऽनिति चेष्टते इति मागा; अना दन्तादयेति क्विप् । अधधनिसासगरिससनिप स्यात्तथा—अ. विष्णुस्त धरेतीति अध. श्रीरघुनन्दन., अनेकविष्ण्वाश्रयत्वात्—

---

१ ख मालतीत्यादिना । २ ख सुजातानि । ३. '—' ख अयमश क पुस्तके नाऽस्ति ।
४. क. पादपादपान । ५ क. वृक्षामालि० । ६. क. ०कांक्षया माह ।

'ततो विष्णुमय देव पूजयन्ति स्म देवता'

इति श्रीमद्रामायणे विष्णुमय विष्णुप्रचुरमित्यर्थ. । तस्य वनि. शब्द धनरवे, शासन शास. स गम्यतेऽनेनेति वाहुलकत्वान्न-विशेषणस्य पूर्वनिपात: । गामग शब्द: श्रीरघुनन्दनसम्बन्धी सखीजनशिक्षारूपो गानशब्दस्त गिरति श्रवणानन्तरमन्त.करणे धारयतीति स सखीरूपस्तस्य मो गण. 'सो गण: परकीर्त्तित' इत्यनेका०, तस्य सनि अध्येषणा आचार्य्यं प्रति प्रार्थना । 'सनिस्त्वध्येषणे' त्यमर: । सा यस्मिन् कर्मणि तत् अथवनिशासगगनिसमनि, अथवा विष्णवाश्रयरघुनन्दनसम्बन्धिशब्दशासनरूपगानवारकसखीसमुदायकृतप्रार्थना यस्मिन् प्राप्तिरूपे कर्मणीति । अत्र षड्जर्षभयोरादौ मूर्धन्यस्वरयो सत्वात् कथ दन्त्यसकारेकारविशिष्टरकारयोरर्थ कृत इति ? न शङ्कनीय, तयो. सञ्ज्ञाशब्दत्वात् । तदुक्त सङ्गीतरत्नाकरे—

श्रुतिभ्यस्तु स्वरा षड्जर्षभगान्धारमध्यमा ।
पञ्चमो धैवतश्चाऽथ निषाद इति सप्तम ॥
तेषा सञ्ज्ञा सरिगमपधनीत्यपरा मता । इति][1]

एते हि स्वरा वसन्तरागे भवन्ति । शिवस्य सखीत्वमुक्तम्—
कोशलखण्डे—

"रुद्रोऽपि तस्मिन् रमणीस्वरूपो भूपेन्द्रसूनो' परिरम्भणाय ।
तेनाहृतश्चागत एव कस्मादेपेन्दुमुख्यत्र विमृश्यतेति ॥"

अत्र पादपालिङ्गनोत्सुका इत्यनेन जडेष्वपि[2] चेतनधर्माचरणम् । तेन च वसन्तस्याघटितघटनापटुत्व[3] व्यज्यते । यत्र वसन्तसमये अचेतनानामीदृशी चेष्टा तत्र चेतनाना का कथेति भाव ॥१॥

‡विजयेते दम्पती परस्पर सङ्केतभाव सूचयन्तौ, चारुचञ्चलकुन्तलौ, साञ्जननिरञ्जनलोचनखञ्जनमीनमानगञ्जनौ, निजाङ्गरङ्गेण रङ्गभूमि भूषयन्तौ, होलाखेलाकुतूहलिनौ, कनकमयपत्रभृतरङ्गद्रवसाभ्रकारुणचूर्णपूर्णजतुपात्रक्षेपणतत्परौ, नृत्यन्तौ, जडताकम्पिततनू, सुगीतिसहचरीसन्ताडितपटहप्रोत्साहितौ सस्मितमुखौ, विश्वनाथीयमानसमानसे हसाविवेमौ विचरन्तौ ॥२॥‡[4]

---

१. [—] 'अस्याऽर्थोऽपीत्यारभ्य सरिगमपधनीत्यपरा मता इती'त्यन्त. कोष्ठगोऽयमशो नाऽवलोक्यते ख पुस्तके । २ जनेष्वपि । ३ ख. वशतस्या. घटितघटितघटना० । ४ ‡—‡ चिह्नान्तर्गतो नास्त्ययमश ख. पुस्तके ।

साञ्जनाभ्या निरञ्जनाभ्या च लोचनाभ्या खञ्जनमीनयोर्मानस्य[1] गञ्जनौ; अत्र साञ्जने लोचने जानक्या निरञ्जने रघुनन्दनस्येति ज्ञेयम्, होला नाम खेला होरीति लोके प्रसिद्धा तस्या कुतूहलिनौ, कनकमययन्त्रे[2] भृतस्य रङ्गद्रवस्य साभ्रकेणाऽरुणचूर्णेन अबीर इति लोके प्रसिद्धेन पूर्णानि तानि जतुपात्राणि चीनारङ्गफलाकारलाक्षापात्राणि[3] कुमकमा इति लोके प्रसिद्धानि तेषा क्षेपणे तत्परौ, जडतयाऽकम्पिते[4] तनू ययोस्तौ, संगीतिसहचरीभिः सन्ताडितेन पटहेन डफ इति लोके प्रसिद्धेन प्रोत्साहितौ, विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वेद विश्वनाथीय मानसमेव मानस मानसनाम सरस्तत्र हसाविव[5] विचरन्ताविमौ जानकीरघुनन्दनौ विजयेते। परस्पर सङ्केतभाव[6] सूचयन्तावित्यनेन मिथो गालिदान व्यज्यते । साञ्जनेत्यादिपदेन मिथो मुष्टिक्षिप्तरङ्गचूर्णवञ्चन[7] व्यज्यते । तेन च खेलनेऽतिचातुर्य्यमिति । निजाङ्गरङ्गेणेत्यादिना खेलने यतः श्रीरघुनन्दनो धावति ततो मरकतमणिमयीव, यतश्च जानकी धावति तत.[8] सुवर्णमयीव भूमिर्भवतीत्युत्प्रेक्षा[9] व्यज्यते । अत्र वस्तुनाऽलङ्कारध्वनि । सगीतीत्यादेरय भावः—यदा सख्यो[10] गीतौ पटहमातोद्य पराजितोऽसीति गायन्ति तदा पराजयमसहमान श्रीरघुनन्दन प्रकर्षेणोत्साहयुक्तो भवति, एव जानक्यपीति । विश्वनाथीयमानसेत्यादिवाक्येन शिवस्याऽपि शृङ्गारप्रधानैवोपासना व्यज्यते ।।२।।

भृश बिभ्राणानां सुखमधिविहार विषयिणां,
श्रुतो त्वेतत्काव्यश्रवणजनितानन्दमधिकम् ।
समीहेते ज्ञात्वा जनकदुहितुर्भावनमिद,
वयस्या व्याहारै श्रवणपथमापूरितवती ।।१।।

एतावत्कथनेन श्रमं निवार्य्य रास प्राप्ताया सख्या काचिदन्या सखी जगादेत्याह भृशमिति । विहारे इत्यधिविहारमिति[11] विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । भृश सुख बिभ्राणाना[12] विषयिणामिन्द्रियाणां मध्ये श्रुती श्रवणे तु एतत्काव्यश्रवणजनितानन्दमधिक यथा तथा समीहेते इच्छतः । इद जनकदुहितुर्भावनमभिप्राय[13] ज्ञात्वा वयस्या सखी व्याहारैर्वक्ष्यमाणैर्वचोभिस्तस्याः श्रवणपथमापूरितवती । एतेन सख्या वाग्मित्वम् । तेन च तस्या. समयज्ञत्व व्यज्यते ।।१।।

---

१ क. खजनीनयो० । २. ख. कनकमयपात्रे । ३. ख चनारंग० । ४ ख जातयाकपिते । ५ क. हंसावि । ६. ख संकेभावं । ७. ख. मुष्टिक्षिप्तण चूर्ण० । ८. ख. जतः । ९. ख. भूमिभवाती० । १०. क. सख्यौ । ११. क इत्यधिहारमिति । १२. क. विभ्राण । १३. ख. •भावना० ।

विहरति रघुपतिरिह ऋतुराजे,
किशलयकुसुमसमाकुलतरकुलकोकिलकीरसमाजे ॥१॥

विहरतीति । इह ऋतुराजे ऋतुश्रेष्ठे वसन्ते इति यावत्, रघुपतिर्विहरति । कीदृशे ऋतुराजे ? किशलयैः कुसुमैश्च समाकुलेषु व्याप्तेषु तरुषु । कुलेषु गृहेषु कोकिलानां कीराः शुकास्तेषां च समाजः समूहो यस्मिन् । अत्र रघुपतिऋतुराज-पदाभ्यां समानशीलत्वम् । तेन च विहारयोग्यता व्यज्यते । अत्राऽष्टपद्या वाच्यार्थतो वसन्तसम्पत्तिवर्णनं व्यङ्ग्यार्थतश्च रघुराजराज्यवर्णनं करोति । तथा हि रघुपतिराज्ये धनधान्यसम्पन्ने प्रजा अपि नगरादिषु समाजं कुर्वन्तीति । एतेन व्यङ्ग्यार्थेन तासां हर्षातिशय इति ॥१॥

विलसितमञ्जुलवञ्जुलपुञ्जनिकुञ्जमहोज्ज्वलभासे ।
विकसितसारसकुलखगसङ्कुलसरसीसरसोल्लासे ॥२॥

विलसितेति । विलसितेषु शोभितेषु मञ्जुलवञ्जुलपुञ्जानां[1] सुन्दराशोक-समूहानां कुञ्जेषु लतादिपिहितोदरेषु[2] महानुज्ज्वलस्य शृङ्गारस्य भासो यस्मिन् स तस्मिन्, विकसिते फुल्ले सारसकुले कमलसमूहे खगैः पक्षिभिश्च सङ्कुलानां सरसीनां सरसं रसः शृङ्गारस्तेन सहित उल्लासो यस्मिन्स तस्मिन् । अत्र पूर्वार्द्धे इदं व्यङ्ग्यम्—रघुपतिराज्ये मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जसमानि[3] कामोपचारसहितानि भवनानि सन्तीति । तेन च तेषां विहारयोग्यतेति । उत्तरार्द्धे इदं व्यङ्ग्यम्—रघुपतिराज्येऽपि प्रतिभवनं विहारार्थं निर्मिताः गृहदीर्घिकादयो गृहपक्षिणश्च सन्तीति । तेन चोद्दीपनाधिक्यमिति ।

[4]तरलतरङ्गतरणलतिकाततिलीलासुखदसमीरे ।
तरुपरिरम्भणवलितलतावलिवनविकलीकृतधीरे ॥३॥

तरलेति । तरलाश्चञ्चला ये तरङ्गास्तेषां तरणेन लतिकानां ततिषु पङ्क्तिषु लीलया[5] च सुखदः समीरो यस्मिन्[6] । तरलेत्यादिना वायोस्त्रैविध्यं व्यञ्जितम् । तरूणां परिरम्भणेन वलितानां युक्तानां लतानामवलिर्यस्मिन् तेन वनेन विकलीकृता धीरा यस्मिन् स तस्मिन् । [7]तरङ्गेत्यादाविदं व्यङ्ग्यम्—

१ क मञ्जुलपुञ्जानां । २ ख लतादिहितो । ३ मञ्जुलकुञ्ज० । ४ ख. तरसतरङ्ग० ।
५ ख लीलाया । ६. ख यस्मिन् स तस्मिन् । ७ ख. तरलतरङ्ग० ।

रघुपतिराज्येऽपि प्रतिभवन क्रीडातडागेषु क्रीडन्तीना लतासदृशवनिताना समूहेषु समीरणस्य [1]वस्त्रालकादिचालनरूपा लीला भवतीति । तेन च सखीसमूहनिर्गतत्वान्मन्दत्व तदङ्गसङ्गात्सुगन्धित्व[2] जलसम्पर्काच्छीतलत्व चेति । तरुपरिरम्भणेत्यादाविद व्यङ्ग्यम्—रासादिषु[3] वनिताजनकृतनायकपरिरम्भणश्रवणेन स्मरणेन च धीरा अपि मुनिजना ईर्ष्यो भूत्वा वयमपि रासे श्रीरघुनाथालिङ्गनानन्द कदा लभेमेति व्याकुलीभवन्तीति । तेन च मुनिजनस्य[4] रासप्राप्तिरेव मुख्य फलमिति ॥३॥

पवनविसारिपरागपटलपटघटितानेकविताने ।
मनसिजमत्तयुवतिजनसङ्गतयुवजनमोदनिदाने[5] ॥४॥

पवनेति । पवनविसारिणो विसरणशीलस्य परागस्य पुष्परजस पटल समूह एव पटस्तेन घटितानि रचितानि अनेकवितानानि येन तस्मिन्, मनसिजेन कामेन मत्तैर्युवतिजनैः सङ्गतानां मिलिताना युवजनाना मोदस्याऽऽनन्दस्य निदाने प्रथमकारणे । पूर्वार्द्धे इद व्यङ्ग्यम्—श्रीरघुपतिराज्येऽपि कुसुमरज सदृक्षा अतिसूक्ष्मसुगन्धिपीतादिवस्त्रवितानभूषितानि भवनानि सन्तीति । तेन चोत्सवाधिक्यमिति । उत्तरार्द्धे त्विदम् — रघुपतिराज्ये स्वीयाभि[6] स्वच्छन्दविहरता स्वास्थ्यकारण रघुपतिरेवेति । तेन च तेषा विहारे प्रतिबन्धकाभाव इति ॥४॥

[7]विगतपलाशपलाशकुसुमकृतविरहिवह्निसन्ताने ।
पुञ्जितमधुकरगुञ्जितगञ्जितमानवतीगुरुमाने ॥५॥

विगतेति । विगतानि पलाशानि पत्राणि येषा[8] तेषां पलाशाना कुसुमैः कृतो विरहिणा वह्नेः सन्तानो विस्तारो यस्मिन्[9], किंशुककुसुमानि वीक्ष्य विरहिणामन्तर्दाहो भवतीति भाव. । यत्र च जडा अपि पत्रवस्त्राणि त्यक्त्वा निरपत्रपा[10] जाता., का कथा चेतनानामिति भाव. । पुञ्जितताना[11] बद्धसमूहाना मधुकराणा गुञ्जितेन शब्देन गञ्जितो नाशितो मानवतीना गुरुः पादपतनापनेयो मानो यस्मिन् स तस्मिन् । भ्रमरगुञ्जित श्रुत्वा मानिन्यो मान विहाय स्वत एव पतीनालिङ्गन्तीति भावः । पूर्वार्द्ध इद व्यङ्ग्यम्—रघुपतिराज्येऽपि[12]

---

१. ख. वस्त्रालकालिकादि० । २. ख. ०सुगन्धिजत्व । ३. ख रसादिषु ।
४ क. मुनिमनस्य । ख मुनिमननस्य । ५. ख. युवगणमोद० । ६ ख स्वीयानि ।
७. ख. विगतपलाशकुसुम० । ८. ख. येषां ते । ९ ख यस्मिन् तस्मिन् तस्मिन् ।
१०. क ख निरपत्रया । ११. ख. पुञ्जितां । १२. ख रघुपतिऽपि ।

प्रतिभवन चित्रलिखितकुसुमितकिंशुक निरीक्ष्यमाणास्तेऽपि चित्रलिखिता एव विकलाकृतयो निरीक्ष्यन्त इति । तेन च तत्र दम्पत्योः परस्परमनुरागाविर्यामिति । उत्तरार्द्धे चेदम्—रघुपतिराज्येऽपि सङ्कुचितावयवा मधुकरा इव रसास्वादका ये नायकास्तेषा गुञ्जितमिवोद्दीपक वचनमाकर्ण्य मानिन्यो मान मुञ्चन्तीति ॥५॥

मलयानिलपरिमलितदिशावलिकिशलयललितदुकूले ।
अतिसुकुमारकुसुमशरमारकमारजगज्जयमूले ॥६॥

मलयानिलेति । मलयानिलेन परिमलिता सुगन्धयो[1] दिशावले[2] प्राच्यादिदिक्पङ्क्तेः किशलया एव ललितानि वस्त्राणि यस्मिन् स तस्मिन्, अतिसुकुमाराणामतिकोमलाना कुसुमरूपशराणा सारकस्य प्रक्षेपकस्य मारस्य कन्दर्पस्य यो जगज्जयस्तस्य मूले कारणे । कुसुमशराणामतिकोमलत्वाज्जगज्जयाक्षमेण कामेन वसन्त एव जगज्जाययतीति भाव । पूर्वार्द्धे इद व्यङ्ग्यम्—महाराजरघुपतिराज्येऽपि वनिताना सुगन्धीनि किशलयवत्कोमलानि दुकूलानि सन्तीति । तेन च तत्र दारिद्र्याभाव इति । उत्तरार्द्धे त्विदम्—महाराजो रघुपतिरपि स्वभटाना जगज्जयमूलमस्तीति । तेन च पराक्रमातिशय इति ॥६॥

मुनिमनसोऽपि मदनमदमादिनि मोदमहोदधिमाले ।
अशकलचन्द्रचन्द्रिकाचन्दनचर्चितदिगन्तराले ॥७॥

मुनिमनस[3] इति । मुनिमनसोऽपि[4] मदनमदेन मादिनि मदकारिणि, मोदमहोदधीनामानन्दसमुद्राणा[5] माला यस्मिन्स तस्मिन्, अशकलस्य पूर्णचन्द्रस्य चन्द्रिका एव चन्दन तेन चर्चित लिप्त दिशामन्तराल मध्य येन स तस्मिन् । पूर्वार्द्धे इद व्यङ्ग्यम्—रघुपतिराज्येऽपि [6]उद्दीपनीकरणानन्दातिशय इति । तेन च तत्रैश्वर्यातिशय इति । उत्तरार्द्धे त्वेतत्—रघुराजराज्येऽपि प्रजायशश्चन्द्रिकया दिङ्मण्डली चर्चितेति । तेन च सर्वेषा सुकृतित्वमिति[7] ॥७॥

अखिलमहीमण्डलमण्डनकरसङ्कुलविविधविलासे[8] ।
विश्वनाथकथिता पदगाथा विलसतु रसिकविलासे ॥८॥

---

१ क. सुगन्धियो । २ क दिशावलेय । ३ क मनिमनस । ४. क. मनिमनसोऽपि । ५ ख ०महोदधीमानन्दे समु० । ६ ख उद्दीपनो कर० । ७ क ख सुकृतीत्व० । ८ ख ० मडलमनकरमकु विविध० ।

वसन्तवर्णनमुपसहरति अखिलेति । अखिलस्य सम्पूर्णस्य महीमण्डलस्य मण्डनकराः भूषका. सङ्कुला विविधा विलासा यस्मिन्[1] ऋतुराजे । इद व्यङ्ग्यम्—श्रीरघुपतिराज्येऽपि विविधविलासै प्रजा. पृथिवीमण्डल भूषयन्तीति । तेन चाऽनयाभाव इति । विश्वनाथेन कविना वा कथिता पदगाथा,[2] रसिकाः श्रीरघुनन्दनलीलाज्ञातारस्तेषा निवासे गोष्ठ्या विलसतु । अत्र रसिकगोष्ठीविलासेनाऽस्य गीतस्याऽपि वसन्तसमानशीलत्वम् । तेन चाऽत्र श्रृङ्गाराधिक्यं व्यज्यते ॥८॥

नृत्यति नवललनागणमण्डितरसपण्डितनवरामः ।
यल्लावण्यलेशमपि न लभेदमितरतिर्यदि[3] कामः ॥१॥

विहरतीत्यनेन प्रतिज्ञात विहार वर्णयति नृत्यतीति । नवाना ललनाना गणेन मण्डित स चाऽसौ रसे श्रृङ्गारे पण्डित स चाऽसौ नवो रामः नृत्यति । यदि काम अमिता अपरिमिता रतयो यस्य ईदृश. स्यात्तदाऽपि यस्य श्रीरघुनन्दनस्य लावण्यस्य लेशमपि न लभेत् । अत्रोपमेये नृत्यस्योक्तत्वादुपमानेऽपि तदाक्षेप प्रथमत स रमणशीलस्तत्राऽपि[4] रसप्रवीणस्तत्राऽपि नवललनागणमण्डितस्तत्राऽपि नृत्यम् । एतेन रासे परमरसाधिक्यम् । तेन च रमणीनामुत्साहातिशयो व्यज्यते ॥१॥

तावता-वतत्थ-इत्थ-इतत्थ-इ-निनदापूरितदावम् ।
वीणानादसुसङ्गतसिञ्जितमधिकव्यञ्जितभावम् ॥२॥

नृत्यतीत्युक्त नृत्य वर्णयति । तावतावेत्यादिना । क्षण सुप्रीतः सुप्रसन्न इव, क्षण भीत इव, क्षण ह्रीतो लज्जित इव, क्षणमह्रीतो धृष्ट इव, क्षणमनुनीतो[5] मुक्तमान इव श्रीरघुनन्दनस्तावता वतत्थइत्थइ[6]—इत्याकारकनिनदेन सङ्गीतसज्ञकनृत्यसम्बन्धिशब्देन आपूरितो दावो वन यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यादेवम् । तावता वेत्यादेरर्थस्त्वेवम्—इ सम्बोधने हे श्रीरघुनन्दन । इथे कामोत्सवे, वनाऽऽमन्त्रणे हर्षे[7] वा, ता. स्त्रियस्त्वमव[8] रक्ष[9] । कीदृशस्त्व ? तत्थ ताभ्यस्य मङ्गल यस्य सः, यद्वा तासा मङ्गल यस्मात् सः, कीदृशे इत्थे ?

---

१ ख यस्मिन् स तस्मिन् । २. ख पादगाथा । ३ ख लभेदमिति० ।
४ ग. ०स्तत्रापि नवस्तत्राऽपि । ५ ख क्षणनुननीतो । ६. ख वतत्थइ तथइ थइ ।
७ ख हर्ष । ८ क ०स्तममव । ९ ख लक्ष ।

इतत्थे इ-भेदस्त तनोतीति इतत्, तादृगस्थ,क्षणोऽवकाशो यस्मिन् स तस्मिन्, प्रमाण चाऽत्र—

'थ क्षणे मङ्गले च स्यादिति' मेदिनी ।

इभेदे चोभयत्र, वीणानादेन सुसङ्गत सिञ्जित भूषणशब्दो यस्मिन् कर्मणि, अधिक व्यञ्जितः प्रकटितो भावो यस्मिन् कर्मणि, तद्यथा स्यादेवम् ॥२॥

सङ्गीत नृत्यति सङ्गीत सुप्रीतो रमणीयम् ।
क्षणभीतो ह्रीतोऽह्रीत[1] क्षणमनुनीतो मननीयम् ॥३॥

सङ्गीत सम्यग्गीत सङ्गीतशास्त्रेऽत्युत्तममित्यर्थः । रमणीयम् मनोहर, मननीय मननयोग्य, सङ्गीत नृत्यविशेष, नृत्यतीति द्वयोः सम्बन्धः । प्रत्येकमण्डले स्थितयैकया प्रवीणया सख्योच्चारितास्तावता[2]-वेत्यादिशब्दान् नृत्यन्ती सखी पदगत्या वादयन्ती च मृदङ्गेन नि सारयतीति भाव. । अत्र सुप्रीत इत्यनेन स्वकीयाया, भीत इत्यनेन मुग्धाया, ह्रीत इत्यनेन मध्याया., अह्रीत[3] इत्यनेन प्रगल्भायाः[4], अनुनीत इत्यनेन गतमानमानिन्याश्च भाव सूचयतीति व्यज्यते । तेन च तस्य नर्त्तनेऽधिकप्रवीणतेति । तेन च हे स्वामिनि ! एकस्वभावेन तादृशरसाधिक्य नोत्पद्यतेऽत. श्रीरघुनन्दन इयतो भावान् दर्शयस्त्वा शिक्षयतीति सख्यभिप्रायो व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनप्रिय मान कुर्विति ॥३॥

वाद्यमिलितमञ्जीरधीररवसुललितगतिततिसङ्गम् ।
अनुगततालविशालभेदगणमुखरितमधुरमृदङ्गम्[5] ॥४॥

पुनः सङ्गीत विशिनष्टि वाद्येति । वाद्येषु रासोपयोगिचतुर्विधवाद्येषु मिलितो मञ्जीराणा धीरो रवो यस्मिस्तच्च सुललितगतिततीनामतिसुन्दरपदचलनपरम्पराणा सङ्गो[6] यस्मिस्तच्च तत्, अनुगतास्तालाना विशाला[7] भेदगणा यस्मिन्नेव मुखरिता वादिता मधुरा मनोहरा मृदङ्गा यस्मिस्तत् । वाद्यमिलितेत्यादिना नूपुरगुटिकाना समानस्वरत्वम् । तेन च तद्ध्वने स्वरजसुखदत्व व्यज्यते ॥४॥

अतिरमणीयो रमणोऽविषम प्रतिराम सरमते ।
सितेतरेतरकरनयन वहु रासमण्डले क्रमते ॥५॥

---

१. ख. ह्रीतोऽह्रीत । २. क. ०चारितोंस्तवता । ३. ख. अह्रीत ४ ख. प्रगल्भाया ।
५. ख. ०भेदगुणमुखरित । ६ क. समो । ७. ख. नाऽस्ति ।

अतिरमणीयो रमणो रघुनन्दनः अविषम सम यथा स्यादेव प्रतिराम रामां रामां प्रति सरमते सम्यक् क्रीडति । तस्य सखीषु नृत्यप्रेमकटाक्षादिलीला न्यूनाधिका न भवतीति सखीमण्डल तिर्यङ् भवतीति भावः । सित बद्ध परस्परकरनयन यस्मिन्कर्मण्येव यथा स्यात्तथा, रासमण्डले बहु क्रमते बहु चलति । रासमण्डले सखीना रघुनन्दनस्य बहुत्वाल्लोलनृत्य भवतीति । एक एव रघुनन्दनोऽतिनर्त्तनजवेन सकलसखीनिकटे दृश्यत इति भावः[१] । सितेतरेतरकर-नयनमिति क्रियाविशेषणेन परस्परालोकने तृप्तिमलभता मनोऽपि बद्ध भवतीति व्यञ्जितम् । तेन च रासेऽत्यासक्तिरिति ॥५॥

मिथो दर्शनस्पर्शनपुलकितवपुर्विजयते पनसम् ।
स्वेदसलिलकणसहितवदनमपि पयोनिधिजचन्द्रमसम् ॥६॥

मिथ इति । मिथो दर्शनस्पर्शने पुलकितं च तद्वपुश्च तत्, पनस[२] विजयते । स्वेदसलिलकणसहितवदनमपि पयोनिधिजचन्द्रमस विजयते । पयोनिधिज इति विशेषणेन चन्द्रस्य सजलकणत्वम् । तेन च तत्कालोत्पन्नत्वम् । तेन चाऽरुणत्वम् । तेन च तदुपमया वदनेऽप्यारुण्यम् । तेन चाऽनुरागातिशय इति व्यञ्जितम् ॥६॥

प्रसरत्पदतलशोणिमकबरीकालिमनखभाश्रेणीम्[३] ।
मणिमयरासस्थल इह मन्ये शतशश्चलत्त्रिवेणीम् ॥७॥

प्रसरदिति । इह मणिमयरासस्थले[४] यः प्रसरत्पदतलस्य शोणिमा च कबर्या केशविन्यासस्य कालिमा च नखानां भाश्च तास्तासा श्रेणी राजिस्तां, शतशश्चलन्ती त्रिवेणी गङ्गायमुनासरस्वतीसङ्गम मन्ये । निजनिकटमागतस्या-र्थिजनस्य मनोरथानां पूरयन्त्याः प्रयागैकदेशस्थितायाः वेण्या आसा रासमण्ड-लीयचञ्चलवेणीना दर्शने चैव पूर्णकामस्याऽपि रघुनन्दनस्य हृदये मनोरथान् वर्द्धयन्तीनां वैलक्षण्य व्यज्यते । तेन च तासामतिशयितरसोत्पादकत्वमिति ॥७॥

ब्रह्मानन्दविजयि युञ्जानो ध्यान यतिभिरगम्यम्[५] ।
विश्वनाथ उत्थाय ततोऽपि हि नृत्यति रासे रम्यम् ॥७॥

---

१ ख वा भाव । २ क पुनस । ३ ख शोणिमककरी० । ४. ख मणिमये रा० ५. ख पतिभि० ।

ब्रह्मानन्देति । यतिभिर्योगिभिरगम्यमप्राप्य ब्रह्मानन्दस्य विजयि, रम्य श्रीरामरासलीलाविषयक ध्यान युञ्जानस्ततोऽपि हि उत्थाय, तदपि ध्यान त्यक्त्वा विश्वनाथ सखीरूपो महादेव, श्रीरघुनन्दनसेवायोग्यशरीरेण रासस्थितः[1] कश्चिन्नृत्यति । ब्रह्मानन्देत्यादिना रासस्य सर्वथा ध्यानागम्यत्व[2] व्यज्यते । तेन च रासस्याऽनुक्षणनूतनत्वमिति[3] । इति गान विधाय सखी मौनमासीत् ॥७॥

अमृतमधुरतामधो नयन्ती भणितिमिमामभिपीय[4] साधु सीता ।
दरचलितशिरा[5] स्वया वयस्यामलङ्कृताऽङ्गुलिमुद्रया द्रुत ताम् ॥१॥

इति श्रीमहाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सङ्गीतरघुनन्दने
विसन्तरासवर्णन नाम तृतीयः सर्गः ।[6]

अमृतेति । सीता अमृतमधुरतामधो नयन्ती नीचीकुर्वन्ती, इमा सखी गीतवसन्तादिवर्णनरूपा भणिति, साधु यथा भवत्येवमभिपीय सादर श्रुत्वा, दरमीषच्चलित शिरो यस्याः सा, ता वयस्या स्वया अङ्गुलिमुद्रया द्रुत[7] शीघ्र अलङ्कृता[8] अलङ्कृतवती । अत्र द्रुतमिति पदेन जानक्या प्रसादस्याऽचिरकालफलप्रदत्वम् । तेन च महाराजलक्षणवतीत्व व्यज्यते । अयमाशय -निजगाने ललनामण्डितेति विशेषणेन रघुनन्दनस्य सर्वासु सखीषु सम प्रेम । अनुनीत इति विशेषणेन रसवर्द्धकत्वेन तस्याभिप्रेत स्वस्मिन्प्रेमाधिक्यजनकमानविधान च व्यञ्जितवतीय मय्येवाऽधिकप्रेमवतीति विज्ञाय जानक्याऽङ्गुलीयकेन सा परितोषिता ॥१॥

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारि[9]-
श्रीविश्वनाथसिंहकृताया व्यग्यार्थचन्द्रिका-
नाम्नि टीकाया तृतीय सर्ग ॥३॥

---

१. ख रागस्थित । २. ख. आनागम्यत्वं । ३. ख रास्यानुक्षण० । ४. ख. भणितीममामभियीय । ५ ख दरचलति० । ६. ख. पुष्पिकेयं नास्ति । ७. ख. द्रुगम । ८. ख अलपकृत । ९. ०श्रीसीताराम० ।

[अथ चतुर्थः सर्गः]

रमणं रासरतं[1] सम्पश्यन्ती[2] पतिप्रेम दर्शयितुम् ।
सीता गाने सखीगणं नमयन्ती ॥१॥

रासविलाससमाधिसुखाय समन्तरधादस्मिन्किल काले ।
प्रललापेह पतिः प्राणप्रियतमे ! गता भवती क्व नु बाले ॥२॥

रमणमिति । रमणं श्रीरघुनन्दनं[3], रासरतं[4] रासासक्तं, पश्यन्ती,
: प्रेम, स्वस्मिन् दर्शयितुं, गाने सखीगणं नमयन्ती नम्रं विदधती सती,
ा रासविलासस्य समाधिसुखाय ध्यानानन्दाय, अस्मिन् काले वर्त्तमानसुख-
ये, किल समन्तरधात् अन्तर्हिता बभूव । पतिप्रेम दर्शयितुमित्यनेन 'वय
ि जानकीतुल्या एव रघुनन्दनस्य प्रिया' इत्यभिमानः सखीनां माभूदिति तासा
ा कर्त्तुमिति व्यज्यते । तेन च तस्याः सौहार्दातिशय इति । गान इत्यादिना
सख्यो ! भवतीभ्यो न केवलमहं रूपाधिका किन्तु गुणाधिकाऽपि, यतो
गीतमोहितो रघुनन्दनो मामन्तर्दधती न ज्ञातवानिति तस्याः गुणगर्वितात्व
ज्यते । रासविलासेत्यादिपदेन प्रत्यक्षरासमण्डले रघुनन्दनान्तरितसखी सख्य-
रितरघुनन्दनं प्रत्येकरासमण्डलमवलोकयितुं न शक्यतेऽतस्तदवलोकनसुखं
धुमन्तर्हितेत्येककार्य्यसाधनेनाऽनेककार्यसाधनात् तस्याः परमचातुर्यं व्यञ्जितम् ।

जानक्यामन्तर्हितायामिह पतिः श्रीरघुनन्दनः प्रललाप । प्रलापप्रकार-
ह—हे प्राणप्रियतमे ! हे बाले ! भवती क्व नु गता ? मम तु त्वमेव प्राण-
यतमाऽसि यदन्तर्हिताऽतो बालाऽसीति भावः ॥१-२॥

तव मुखनलिननिरीक्षणरहितो[5] नयनमधुकरो मुदं न लभते ।
[6]अनलति मलयानिलो गले मम[7] माल्यं व्यालसाम्यमारभते ॥३॥

तवेति । मम नयनमधुकरः तव मुखनलिननिरीक्षणरहितः सन् मुदं हर्षं
न लभते । एतेन रसविशेषज्ञो मम नयनमधुकरः त्वद्वदनकमलादन्यत्कमलमेव
न जानात्यतोऽन्यत्र मम प्रेमशङ्कां मा कुर्विति व्यज्यते । तेन च सकलसखीतो

१. क. रासतर । २. ख. पश्यति । ३. ख श्रीरघुनन्दनं एव । ४. ख रसत ।
५. ख. मुखनिलनिरी० । ६. ख. अनल । ७ क नाऽस्ति ।

जानक्याः सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते । किञ्च मलयानिलो मम अनलवदाचरति । अय भाव.—यो मलयसम्बन्धी पवनस्त्वत्सङ्ग परमसुखदोऽभूत्, स इदानी त्वा विना वह्निरिव मा दहतीति । मलयसम्बन्धाद् वायो शीतलत्व मन्दत्व सुगन्धित्व' व्यञ्जितम् । मलयानिलस्य वसन्ते वर्णितत्वाद् वसन्तकालो व्यज्यते । किञ्च माल्य मम गले व्यालसाम्यमारभते । आरभत इति क्रियया इदानीमेव दर्शन देहि । यदेय माला व्यालीभूय दक्ष्यति तदा भवत्यागत्याऽपि कि विधास्यतीति व्यज्यते ॥३॥

मम तनुविजितमूढमन्मथ इह मुन्थति निशितशरैरस्नेहम् ।
अतिमतिमन्दो दिवसदीप इव हिमकिरणोऽपि दहति मम देहम् ॥४॥

ममेति । मम तन्वा शरीरेण विजित स चाऽसौ मूढो मूर्खो मन्मथः कामः, मम देह, निशितै. तीक्ष्णैः शरै, न स्नेहः प्रीतिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यादेव मुन्थति पीडयति । हे प्रिये ! य. पूर्वं त्वया सहितस्य मम शरीरशोभाधिक्येन परास्त· स एव काम इदानो त्वद्वियोगेन मम शरीरशोभाहान्या जिगीषतीति भाव । अथ मूढपदेन दु.खिते प्रहारो वीराणामनुचित इति व्यज्यते । तेन च तस्य निर्बलत्वम् । अतिमतिमन्दो हिमकिरणश्चन्द्रोऽपि दिवसदीप इव सूर्य इव मम देह दहति । कामस्तु[२] स्वकान्तिहारकत्वेनाऽपराधित्वात् मा पीडयतु नाम । अयन्तु [निजस्वभाव त्यक्त्वा निरपराध पीडयतीत्यतोऽतिमतिमन्द इति भावः][३] ॥४॥

इह मल्लीवल्ली वासन्ती श्लिष्यन्ती विटप सानन्दम् ।
त्वयि हृदि सत्यां पुरो लसत्यामपि वर्द्धयति वेदनावृन्दम् ॥५॥

इहेति[४] । त्वयि हृदि सत्या हृदये वर्त्तमानायामपि,[५] पुरोऽग्रे अग्रे विलसन्त्या सत्यामपीह[६] स्थाने मल्ली नाम वल्ली वासन्ती नाम वल्ली, विटपोऽस्यास्तीति विटपः । अत्र विटपशब्दादर्श[७] 'आद्यच्', त विटप वृक्ष, सानन्द यथा भवति तथा श्लिष्यन्ती आलिङ्गन्ती सती वेदनावृन्द पीडासमूह वर्द्धयति । एतेन अन्तर्वह्निर्वर्त्तमाना त्वम् मम जानन्त्यपि[८] कथ न सहस इति । तेन च त्व प्रकटीभूय मामानन्दयेति प्रार्थना व्यज्यते ।

---

१ ख. नाऽस्ति । २. ख. कामतुल । ३. [-] ख. पुस्तके तु केवल 'निजस्वरहेति' इति पाठ· । ४ ख. नास्ति । ५. क ख वर्त्तमायामपि । ६ क ख सत्यामयीह । ७. ख. विटपश द' दर्श आद्यच । ८. ख. न जानत्यपि ।

तव रोचनलोचनसमपद्मं सञ्जात मम हृदयखनित्रम् ।
अवलोकय रिपुरतिपतिचरित मिल मिल मैथिलि मामव मित्रम् ॥६॥

तवेति । तव रोचनेन सुन्दरेण लोचनेन[1] सम तुल्य यत्पद्म हृदयस्य खनित्र सञ्जातम् । हे मैथिलि ! इदानी पीडाकरत्वाद्रिपुर्यो रतिपतिस्तस्य चरितमवलोकय । मिल, मिल, मित्र मामव रक्ष । अत्रेद व्यङ्ग्यम्—त्वा विना श्रान्तस्य ममानन्ददायिनो भेदयित्वा कामेनाऽङ्गीकृता इति । तेन च त्वया शीघ्र मित्रस्य साहाय्य करणीयमिति व्यज्यते ॥६॥

विलसति सौदामिनी वारिदे त्व न हि पश्यसि महद्विचित्रम् ।
ज्ञात ज्ञात ध्यानगता त्वं नोचितमिदमन्यथा चरित्रम् ॥७॥

विलसतीति । सौदामिनी वारिदे विलसति शोभते, त्व न हि पश्यसीति महद्विचित्रमाश्चर्यम् । यदि पश्येस्तर्हि पीडिता सती मा प्राप्नुया एवेति[2]भावः । अत्र प्रलापदशातो[3] वियोगे सयोगस्फूर्त्ति. । पुनर्विचार्याऽऽह ज्ञात ज्ञात त्व ध्यानगताऽसीति, अन्यथैतादृशी सौदामिनी वीक्ष्येद ममाऽनालिङ्गनरूपमनुचित चरित तव न भवेत् । अत्र ध्यानगतेत्यनेन त्व तु सुखिताऽहमेव दु खित इति व्यज्यते । तेन च त्व मामेव ध्यायसीति व्यङ्ग्यम् ॥७॥

रघुनन्दनजनकेन्द्रनन्दिनीचरितरसाम्बुधिभवनवनीतम् ।
मोद दिशतु सतामिह नित्य विश्वनाथगीत वरगीतम् ॥८॥

रघुनन्दनेति । रघुनन्दनजनकेन्द्रनन्दिन्योश्चरितरसस्य लीलारसस्य अम्बुधेर्भवं नवनीत, विश्वनाथेन महादेवेन कविना वा, गीत वरगीत, इह जगति, सतां साधूना, नित्य मोदमानन्द दिशतु ददातु । यद्यपि रघुनन्दनस्य सकल चरितमानन्दप्रद, तथाऽपि विशेषरसज्ञानामिद शृङ्गारलीलारूपचरित सर्वाधिकानन्ददायीति भावः । अत्राऽम्बुधिपदेन श्रीरघुनन्दनचरितानामानन्त्यम् । तेन च तत्सारस्याऽप्यानन्त्यमिति व्यज्यते ॥८॥

रत्नाद्रिकुञ्जे तव वल्लभाऽस्ति प्रोवाच राम प्रति योगिनीति ।
कामा सखीयं सवसन्तिका चेद् गायेद् गुणांस्ते प्रकटीभवेत्सा ॥१॥

---

१. ख. लोचलेन । २. ख. रविति । ३. ख ०दशति ।

रत्नादिकुञ्ज इति । तव वल्लभा रत्नादिकुन्जेऽस्ति । तत्र वसन्तिकया[1] सख्येय कामा[2] नाम सखी चेद् यदि तव गुणान् गायेत्तदा सा[3] प्रकटीभवेदिति । योगिनी नाम काचित्सखी राम प्रति प्रोवाच—अह योगवलेन जानामीति योगिनी-पदेन व्यज्यते । तत्र रास ध्यायन्त्या जानक्या एते एव काममुद्दीप्य, मनःक्षोभ जित्वा भवद्वियोग स्मारयिष्यत इति कामावसन्तिकापदाभ्या व्यञ्जितम् । तेन च शीघ्र मानभङ्ग इति गुणगानसमनन्तरप्राकट्यादि[4] व्यङ्ग्यम्—जानकीप्रकटीकारे यादृक्सामर्थ्यं भवदीयगुणाना तादृगन्येषा नाऽस्तीति । तेन च जानक्या रघुनन्दन-गुणाधीनत्व व्यज्यते ।।१।।

स योगिनीसम्प्रतिवेदितार्थो दिदेश कामां सवसन्तिकां ताम् ।
जगाम सेय रघुनन्दनेन प्रादेशिता प्राप्य जगौ गुणालीम् ।।१।।

स इति । योगिन्या सम्यक्प्रतिवेदितो ज्ञापितोऽर्थो जानकीप्राप्तिरूपो यस्मै स राम[5] सवसन्तिका ता योगिनीनिर्दिष्टा कामा सखी दिदेश आज्ञापयामास । रघुनन्दनेन प्रादेशिता आज्ञप्ता सा इय वसन्तिका कामा सखी जगाम रत्नाद्रि-कुञ्जमितिशेष । प्राप्य च रघुनन्दनस्य गुणाली जगौ । योगिनीत्यादिना ज्ञानसाधनेषु योगस्य श्रेष्ठत्वम् । तेन च योगिन्युक्तोपायस्य रघुनाथमन.पतित्व[6] व्यज्यते । अत्र योगशब्देन भक्तियोगो ज्ञेयः ।।२।।

जय जय करुणाकरपर रघुवर ! विना हेतुमुपकारी ।
जनरक्षणसुविचक्षण वीक्षणतीक्ष्णतापसहारी ।।१।।

जानकीकृतमानमोचनाय[7] कामाकृतरघुनन्दनगुणस्वरूपवर्णनरूपगान-माह—जय जयेत्यादिना । अत्रोक्तिस्तु[8] रघुनन्दन प्रतिवोधन जानकी प्रति । करुणा-करेभ्यः परः श्रेष्ठ. हे रघुवर ! हेतु कारणं विनोपकारकरणशीलस्त्व जय जय निजोत्कर्षं प्रकटय । जय जयेत्यादरे वीप्सा । जनाना रक्षणे सुविचक्षण, वीक्षणेन तीक्ष्णतापस्य सहारी स च सः । एतेन नैतादृशोऽपराध करोतीति रघुनन्दनस्य निरपराधत्वम् । तेन च हे जानकि ! तव मानकरणानौचित्य व्यज्यते[9] । अत्रा-ऽन्यसन्निधिवैशिष्ट्यजन्यार्थशक्त्युद्भवो[10] वस्तुना वस्तुध्वनिः ।।१।।

---

१ क. वसन्तिकया । २. क. काम । ३ ख. स । ४. क. प्राकट्यं द । ख. ०प्राक् कोद ।
५ क. नाम । ६. क. रघुनद्य० । ७ ख जानकीकृतामान० । ८ ख अत्रोक्ति ।
९ म. विज्यते । १० ख ०वैशिष्ट्यन्यार्थ० ।

नित्यक्षण सुविलक्षणलक्षण नरशिक्षणससारी ।
वत्सलतादिसकलगुणसागर नागरवर शृङ्गारी ! ॥२॥

नित्यक्षणेति । नित्यः क्षणः उत्सवो यस्य तत्सम्बुद्धि., सुविलक्षणानि इतरलक्षणेभ्यो लक्षणानि यस्य तत्सम्बुद्धिः, नराणा शिक्षणाय ससारीव संसारी, वत्सलतादीना सकलगुणाना सागर अगाधप्रेमनिवासस्थान; अश्रितदोषमोचकत्ववत्सलता-आदिना सौशील्यादीनां परिग्रहः । नागरः वर प्रवीणः श्रेष्ठः, शृङ्गारी शृङ्गाररसास्पदम्, उचितोत्तमाभूषणधारको[1] वा । अस्मत्स्वामिनीं विना व्यथितो भवान् स्वस्य नित्योत्सवलक्षणप्रतिपादक सामुद्रिकशास्त्र किं मृषा करिष्यतीति सुविलक्षणलक्षणेति पदेन व्यज्यते । तेन च हे जानकि ! भवत्यपि सामुद्रिकशास्त्रवैयर्थ्यकारण मा भूदिति । नरशिक्षणाय योऽवतरति त वय स्त्रियः किं शिक्षयाम इति नरशिक्षणससारीति पदेन व्यज्यते । तेन च हे स्वामिनि ! त्वमपि तथैव पतिव्रतशिक्षणायाऽवतरसीति । परमप्रवीणे त्वय्यस्माक शिक्षावचनमनुचितमिति नागरवरेति पदेन व्यज्यते । तेन च हे प्रवीणे ! त्वमेव प्रकटीभूय रघुनन्दन शिक्षयेति । शृङ्गारिण. पुरुषाः सापराधा अपि वनिता लालयन्तीति शृङ्गारीति पदेन व्यज्यते । तेन च हे राजकिशोरि[2] ! [3]निजान्तर्दधानापराधशङ्का मा कुर्विति ॥२॥

लोचनवदनबाहुवारिजविधुविषधरमदपरिहारी ।
कण्ठोरःस्थलकम्बुनीलमणिशिलाचारुतादारी ॥३॥

लोचनेत्यादि । लोचनेन च वदनेन च बाहुना च क्रमेण वारिजस्य विधोश्च विषधरस्य च मदस्य गर्वस्य परिहारी दूरकर्त्ता, कण्ठेन च उरःस्थलेन च कम्बोश्च शखस्य नीलमणिशिलायाश्च चारुतादारी सौन्दर्य्यनाशकः जलजचन्द्रयोस्तापनिवारकताह्लादकतयोः, सर्पे आकारविशेषस्य[4] गर्वः, शखे रेखात्रयवदाकारस्य, नीलमणिशिलाया विस्तारकान्तिस्निग्धताना[5] चारुतेति[6] ॥३॥

उदरजितोज्ज्वलजलधित्रिवलीतल्लहरीधिक्कारी ।
[7]सुकटिसविघपदहरिकटिकरिकरनवकिशलयलघुकारी ॥४॥

---

१ ख अचित्तं तमा० । २. ख. किशोर । ३ ख. निजान्तह्याना० । ४ क. अकार० ।
५ ख विस्तार० । ६ ख च चारुतेति । ७. ख सुकठिसविथ० ।

उदरेति । उदरेण जित उज्ज्वलस्य शृङ्गारस्य जलधिर्येन स चाऽसौ त्रिवलिभिस्तस्य[1] समुद्रस्य लहरीणां धिकारी निन्दक', यथाक्रम सुकटिसविध-पदेन[2] हरिकटि-करिकर-नवकिशलयान् लघून् करोतीति सः, शृङ्गारसमुद्रे गाम्भीर्यसौदर्ये[3] तल्लहरीष्वाकृतिशोभे सिंहकटौ सूक्ष्मता, शुण्डायामाकार., नव-पल्लवेषु वर्णकोमलते इति । एतेन तवैतादृशरूपदर्शन·त्यक्तु न कोऽपि शक्नोति । सुषमावधिरूपादर्शनासहिष्णुर्जानकी कथमन्तर्हितेति बोधयति[4] । तेन च हे जानकि ! रघुनन्दन[5] प्राप्नुयाश्चेत्तर्हि तव रूपादर्शनासहिष्णुत्वहानि-र्भविष्यतीति ॥४॥

स्मितयुवतीजनविस्मितकारक रसनायकविस्तारी ।
सरसदर्शनस्पर्शसमेधितसुखसुषमापरिसारी ॥५॥

स्मितेति । स्मितेन युवतीजन विस्मित करोतीति तत्सम्बुद्धिः, यदा स्मयते तदा सुधावृष्टिर्भवतीति, तरुण्यो विस्मयन्त इति भावः । रसनायकस्य शृङ्गारस्य विस्तारी विस्तारकर्त्ता, रससहिताभ्या दर्शनस्पर्शाभ्या समेधित सवर्द्धित सुख येन तत्सम्बुद्धि, सुषमाया परमशोभायाः परिसारी । यत्र यत्र चलति तत्र तत्र सुषमा छटा प्रसरतीति भावः । 'सरसेत्यादावय' भाव.[7]—या काममुद्दीपयन् सकटाक्ष निरीक्षसे, या च त्वा स्पृशति, अथवा या सखी त्वा कटाक्षेण पश्यति, तस्या. परमसुखावधिर्नाऽस्तीति । स्मितेत्यादौ च स्मितमात्रे-णैव[8] युवतिजनविस्मयजनकत्वात्तासा[9] मध्यगुरुमानयो सम्भावनैव नाऽस्तीति । अत्र रसनायकेत्यादिना शृङ्गारस्य रघुनन्दनाधीनत्वम् । तेन च रघुनन्दनस्य-रसराजत्वम् । तेन च तवाऽपि रसराजस्वामिनीत्वम् । तेन चाऽऽलम्बनभूतयोः प्रतिकूलाचरणेन तद्धानिर्भविष्यतीति । तेन च मिल मिलेति व्यज्यते ॥५॥

वसनविभूषणकलितकलेवर मौलिमुकुटमणिधारी ।
अद्भुतकेलिकुतूहलकोविद नित्यराससञ्चारी ॥६॥

वसनेति । वसनैः विभूपणैश्च कलित कलेवर यस्य तत्सम्बुद्धि', मौलौ मुकुटमणि मुकुटश्रेष्ठ धरति तच्छीलः । सहजा यस्य[10] सुपमामवलोक्य काऽपि

१ ख. त्रिवल्लीभि० । २. ख. ०सवियपदेन । ३. क ०सोदर्य । ४. क वर्णकोमले । ५. ख. बोधयेति । ६. ख. रघुनन्दनं न । ७. '-' ख. नास्त्ययमशः । ८. ख. स्मितामात्रेणैव । ९ ख युवतिजनकत्वात्तासां । १०. ख. जस्य ।

त्यक्तु न शक्नुयात्, किम्पुनर्वसनादिभूषितस्येति भावः । अद्भुतासु केलिषु यत्कुतूहल तत्र कोविद ! यस्या यथा मनो भवति तया सह तथैव क्रीडसीति भावः । नित्यराससञ्चरणशीलः । एतेन रघुनन्दनस्य क्षणवियोगासहत्वम् । तेन च विरहदुःखातिशयः । तेन च हे जानकि ! यावद् रघुनन्दनो विवर्णो न भवेत्तावदेव प्रकटीभूय रघुनन्दनं [1]पश्याऽन्यथैताहशरूपदर्शन तव दुर्लभ भविष्यतीति व्यज्यते ॥६॥

कोककलाकलनाकुशलाऽल्पकजल्प[2] प्रियानुसारी ।
मानविमोचन ललनालोचनसुखमयकायविहारी ॥७॥

कोकेति । कोके कामशास्त्रे[3] या. कलास्तासां कलनाया रचने कुशलः, नव-नवकोककलाः कर्तुं समर्थ इत्यर्थः । अल्पको जल्पो यस्य तादृशः । कदाचिद् भयेन कठोरवचन न निस्सरेदिति[4] स्वल्पमेव जल्पसीति भावः । प्रियामनुसरति तच्छील., सर्वथा प्रियानुकूल इत्यर्थः । अथवा कोककलाकलनाकुशलाल्पकजल्पप्रियामनुसरतीति । हे मानविमोचन ! ललनालोचनाना सुखमयेन कायेन विहरतीति । मानविमोचनेत्याद्येक पद वा । एतेन[5] यदि [6]कदाचित्किाचिद्रसाधिक्याय मानमपि कुर्यात्तर्हि त्वत्स्वरूपदर्शनादेव मानस्य स्मृतिरेव भवतीति[7] । तेन च हे मानिनि ! दृष्टे रघुनन्दने तव मानो [8]यास्यत्येवाऽतस्त्व स्वत एव कथ न प्राप्नोषीति व्यज्यते ॥७॥

ईदृशि रमणे दृग्गोचर इह किमु विहरति वरनारी ।
विश्वनाथगीते गीतेऽस्मिन्मिलतु विदेहकुमारी ॥८॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार श्रीविश्वनाथसिंहकृते[9] रघुनदने[10]
जानक्यन्तर्द्धानवर्णन नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

अथ श्रीरघुनन्दनस्य निरपराधता[11] स्वरूपगुणांश्च वर्णयित्वा जानकीमानयोग्यता[12] व्यञ्जयन्ती गीत सहरति—ईदृशीति । ईदृशि रमणे त्वयि दृग्गोचरे सति इह वरनारी विशेषरसाभिज्ञा किमु विहरति विहार करोति,

---

१ ख. यस्या० । क यश्यान्यथैभावदृशवे । २ ख कलनाकुलाल्पक० । ३ ख. कामाणास्त्रे । ४ क सरेदिति । ५. क. यतेन । ६. ख. कचादित्० । ७ ख भमवतीति । ८ क. यास्यात्ये० । ९. ख. सिंहकृतायां । १० ख सगीतरघु० । ११ ख निरपराधाता । १२ ख. ०योग्यतां ।

अपि तु नैव करोतीत्यर्थः। एतेन रघुनन्दनस्य नायकोत्तमत्वम् । तेन च हे जानकि ! त्वमुत्तमनायिकाऽसि[1]; इदानीमपि मानं न त्यजेश्चेत्तदा रहसि[2] सख्यस्त्वामज्ञां कथयिष्यन्तीति[3] । तेन च ज्ञानिकन्यायामज्ञानिनीति कथन महती लज्जेति व्यज्यते । अस्मिन् गीते विश्वनाथेन महादेवेन कविना वा गीते, अथवा विश्वनाथस्य श्रीरघुनाथस्य गीत गान यस्मिस्तस्मिन् गीते सनि, विदेहकुमारी मिलतु प्राप्नोतु[4] रघुनन्दनमिति शेष. ।

इति सिद्धि[5]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारी[6]
श्रीविश्वनाथसिंह-कृतायांव्यग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि[7]
टीकाया चतुर्थं सर्गः ॥४॥

[अथ पञ्चमः सर्गः]

रघुनन्दनगुणगानाद्भुतप्रभाव जनकपुत्रीं च ।
युगपद् विलोक्य ससुख[8] वसन्तिका सङ्गगादेदम् ।।१।।

[9]एतेन रघुपतिगुणगानस्याऽतिसद्य.फलदातृत्वम् । तेन च तस्य सर्वाधिक्य व्यज्यते । 'अत्र सहोक्त्यलङ्कारध्वनिजवस्तुना वस्तुध्वनिः'[10] ।।१।।

पश्य पश्य कामे सखि पुरतो राजति जनककिशोरी ।
ध्यानगतान्तर्द्धानप्रकटितपतिमुखचन्द्रचकोरी ।।१।।

रासरत रमण ध्यायन्तीमेव जानकी मानिनी मत्वा, श्रीजानकीमानकरणमनुचित विचार्य्य मानो मया न कृतोऽपि तु ध्यानमेव कुर्वती स्थितेत्यूरीकृत्य श्रीरघुनाथ पायादित्यभिप्रायेण ध्यानमारोपयन्त्याह—पश्येति । हे कामे सखि ! पश्य पश्य, तव पुरतो जनककिशोरी राजति । ध्यानगता सा चाऽसौ [11]अन्तर्द्धानात्प्रकटिता च सा चाऽसौ पत्युः[12] श्रीरघुनन्दनस्य मुखमेव चन्द्रस्तत्र चको-

---

१ ख तुमुत्तम० । २ ख. हरसि । ३. ख. कथयिष्यन्तीसि । ४ ख. प्राप्नोति । ५. ख. सिद्धः । ६ ख पात्राधिकार । ७ ख. विज्ञार्थ० । ८. ख. सुख ।
[९. इत पूर्वमयमशो विशेष ख पुस्तके—'रघुनन्दनेति स्पष्टम्' । १०. '-' चिह्नान्तर्गतोऽशो नाऽस्ति ख. पुस्तके । ११. ख अन्तर्द्धानात्० । १२ ख. पत्य ।

रीव । पश्य पश्येति सम्भ्रमे वीप्सा । पतिमुखेत्यादाविदं व्यङ्ग्यम्—सखि ! पश्यास्या अद्भुतप्रीतिं, मानवती हि प्रत्यक्षेऽपि प्रिये तिर्यङ्मुखी भवति । एषा तु ध्यानेऽपि श्रीरघुनन्दनमुखमेवावलोकयतीति । तेन च नेय मानिनीति ॥१॥

सुमनःस्नेहसुगन्धितशाटी कुसुमकलितकचपाशः ।
भाति सुरद्रुपरागपरीतो यस्या[1] निशि वाऽऽकाशः ॥२॥

सुमनःस्नेहेत्यादि । सुमनसा पुष्पाणा स्नेहः 'अतर' इति लोके प्रसिद्धः, तेन सुगन्धिता सा चाऽसौ शाटी तथा[2] कुसुमैश्च कलितो युक्तः कचपाशः केशपाशः, निशि सुरद्रुमः कल्पतरुः तस्य परागेण कुसुमरजसा परीतो व्याप्तः आकाशो वा आकाशसदृशो भाति । "वा यथा तथैवैवं साम्य"मरः[3] । अत्र निशिपदेन आकाशस्य सनक्षत्रता व्यज्यते । तेन च नक्षत्राणा कुसुमसादृश्यम् । परागसादृश्येन शाट्याः सूक्ष्मताकोमलते व्यञ्जिते ॥२॥

प्रभापुंजपरिभासितभाले लसति नीलमणिराजः ।
अर्द्धचन्द्रसिंहासनगत इव रसराजो विसमाजः ॥३॥

प्रभापुञ्जेति । यस्या. प्रभापुञ्जपरिभासितभाले नीलमणिराजः, अर्द्धचन्द्र एव सिंहासनं तद्गतः, समाजरहितः रसराजः शृङ्गार इव लसति । अत्र भालस्य चन्द्रोपमया[4] दर्शनादेवाऽऽह्लादजनकत्व व्यज्यते । नीलमणेः शृङ्गारोपमयाऽद्वितीयत्वम् । तेन च सौन्दर्यातिशयो[5] व्यज्यते ॥३॥

मोदसदनवदने लोचनयुगमञ्जनयुतमिति शङ्के ।
मिलितमिलिन्दकोकनदयुगल विलसति विधौ निरङ्के ॥४॥

मोदसदनेति । यस्याः मोदसदनवदने अञ्जनयुतं लोचनयुग, निरङ्के निष्कलङ्के विधौ चन्द्रे, मिलितौ मिलिन्दौ भ्रमरौ यस्मिंस्तच्च तत् कोकनदयुगल विलसतीति शङ्के । अत्र मुखप्रशस्त्या कोपाभावो व्यज्यते । तेन च मानानवकाश.[6] । कोकनदपदेन नयनयोः सानुरागत्वं व्यज्यते ॥४॥

अलकावलिकमनीये कर्णे सभमचलितताटङ्कम् ।
यमुनाकूलसुवर्णसुतीर्थे मन्ये रविं सशङ्कम् ॥५॥

---

१. ख. पश्या । २. ख. तन्या । ३. ख. सामा इत्यमर. ।
४. ख. चन्द्रोपमया । ५. ख. सौदर्य्यातिशयो । ६. क. मानानकाशः ।

अलकावलीति । अलकावल्या कमनीये, यस्याः कर्णे, सभ सप्रकाश, अचलितताटङ्क, यमुनायाः कूले सुवर्णस्य सुतीर्थे, सशङ्क[1] रविं मन्ये । अत्र सशङ्कमिति पदेन सूर्यस्य पूर्वं कन्याजलस्नानागमन भ्रमेणेति व्यज्यते । तेन च चकितत्वेन स्थिरत्वम् ।।५।।

ललितविभूषणकलितनासिका[2] नयनकुतूहलचरिता ।
विलसति विजितकीरवदनाकृतिनटनस्थिरशिखिरुचिता ।।६।।

ललितेति । विजिते कीरवदनाकृतिश्च नटनाय स्थिरस्य शिखिनो मयूरस्य रुचिता शोभा च यया सा, आकृत्या शुकतुण्डस्य, भूषणेन मयूरस्य[3] शोभा जितेत्यर्थ । नयनयो.[4] कुतूहलाय चरितं यस्याः सा, यस्या. ललितेन विभूषणेन कलिता सा चाऽसौ नासिका विलसति शोभते । अत्र नटनस्थिरेति पदेन भूषणस्य भाविचञ्चलत्व व्यज्यते । तेन च रघुनाथसङ्गमाय गत्यादि-व्यापार. ।।६।।

कण्ठाभरणविभूषितकण्ठो विजितसमणिदर एष.[5] ।
भूषणभूषितभुज. कुसुमयुतकल्पलतावरवेष.[6] ।।७।।

कण्ठाभरणेति । यस्याः एष.[7] कण्ठाभरणेन विभूषितः स चाऽसौ कण्ठः, मणिभिः सहितो मणिजटित इति यावत् दर शङ्खो येन स राजतीति, शेष । एतेन त्वया[8] कण्ठशोभयैव तादृशमूक. शङ्खो जितः, सम्प्रति सर्व्वानमपि त जयेति व्यज्यते । भूषणेति—यस्याः भूषणभूषितो भुजः, कुसुमैर्युतायाः कल्पलताया. वरो वेषो यस्य स शोभते । एतेन त्वया स्वभुजेन स्वरूपतः कल्प-लता जितेदानी कथन विनैवाऽस्मन्मनोरथपूरणेन[9] तस्याः कामदातृत्वमपि जीयतामिति । तेन च झटिति[10] रघुनन्दन मिलेति[11] प्रार्थना व्यज्यते ।।७।।

कृष्णकञ्चुकीवृतकुचमध्ये विलसति मुक्ताहारः ।
विजितमुदिरयुतमेरुशिखरयुगमध्यसुरधुनीधारः ।।८।।

कृष्णेति । कृष्णवर्णाया कञ्चुक्या वृतयोः यस्याः कुचयोर्मध्ये, मुक्ता-हारः, विजिता मुदिरेण मेघेन युतस्य मेरो. कनकगिरेः शिखरयुगस्य मध्ये

---

१. ख सक । २. ख. ०विभूनकलित० । ३. ख. मयरस्य । ४. ख. नयनो ।
५ ख. येष. । ६ ख कुसुमजुत० । ७ ख. एषा. । ८. क त्वाप्रा । ९. ख.० मथो-रथ० । १० क. झटिति । ११ क मिलिति ।

वर्त्तमाना सुरधुन्या गङ्गायाः धारा येन सः, विलसति । हारशोभया तु ताहश-गङ्गाशोभा जिता, सम्प्रति चलित्वा, श्रीरघुनन्दन मिलित्वा गङ्गायास्तापहारित्व-शक्तिरपि त्वया जीयतामिति जितेत्यादिना व्यज्यते । तेन च त्वां विना रघुनन्दनस्याऽस्माकं च ताप हर्त्तु न कोऽपि समर्थ इति ।।८।।

ललितत्रिवलियुतलोमावलिकृशतरमुदरमसङ्गम् ।
जेतु हरौ त्रिदण्डशक्तिधरमिह मन्येऽहमनङ्गम् ।।९।।

ललितेति । ललितत्रिवलियुता लोमावलिर्यस्मिंस्तत् कृशतरमतिसूक्ष्म यस्या उदरमह हरौ शिवौ जेतु त्रिदण्डाना शक्तेश्च धरमिह असङ्गमनङ्गं मदन मन्ये। एतेन सखि जानकि ! पलायस्व पलायस्व, कुचशम्भू रघुनन्दनोरसा संवमय; कामः शत्रु शम्भु जेत् सज्जीभूत इति सखीपरिहासो व्यज्यते । तेन च तस्या अतिनिकटवर्त्तित्वम् ।।९।।

शङ्करपरपाशितदिनकरकरमपि[1] पश्येयुर्लोके ।
तदपि न सरशनकटिमुपमातुं[2] कवयः शक्ताः श्लोके ।।१०।।

शङ्करेति। शङ्करस्य परेण शत्रुणा कामेन पाशितः पाशविषयीकृतः स चाऽसौ दिनकरस्य करः किरणस्तमपि लोके पश्येयुस्तदपि यस्या. श्लोके रशनया[3] सहितं कटिमुपमातु कवयः शक्ताः समर्था न भवन्ति[4] । शिवस्याऽष्ट-मूर्त्तिषु सत्त्वात् सूर्योऽपि कामशत्रुरिति भावः । एतेन कटिर्दृढ बद्ध इति व्यज्यते । तेन च कुचभारभङ्गभय त्यक्त्वा शीघ्र रघुनन्दन प्रति चलेति ।।१०।।

कनकतन्तुगुम्फितमणिगजमणिवरघर्घरपरिधानम् ।
नयनविषयमुपनीय तरणिरपि रहयति निजमभिमानम् ।।११।।

कनकेति। कनकतन्तुभिर्गुम्फिता मणयो गजमणयो गजमुक्ता यस्मिं-स्तच्च तद्वर घर्घराख्यपरिधान च 'घाघरे' ति लोके प्रसिद्धम्, तत् नयन-विषयमुपनीय प्राप्य, तरणिः सूर्योऽपि निजमभिमान[5] रहयति त्यजति । अस्या-ऽग्रेऽह कियत्प्रकाशवानिति लज्जितो भवतीति भावः । एतेन हे सखि !

---

१. क. ख. ०परपासित० । २. क. ख. सरसन० । ३. क रसनया । ख रसनाय ।
४. ख भवथन्ति । ५. क. निनिजममान । ख. निजमपिमान ।

एतावन्तमीदृशघर्घरभार[1] सोढा[2] तव कटिः किञ्चलन एव[3] त्रुटिष्यतीति व्यज्यते। तेन च निःशङ्कतया गमनं कुर्विति[4] ॥११॥

राजितरत्नाभरणविराजितपादपराजितममलम्[5]।
सजलबिन्दु नखराकृतिमिन्दुं वीक्ष्य विमुद्रति कमलम् ॥१२॥

राजितेति। यस्या राजितै रत्नाभरणैर्विराजितेन पादेन पराजितं, जलबिन्दुभिः सहितममलं कमलं नखराकृतिमिन्दुं चन्द्रं वीक्ष्य विमुद्रति। एतेन जितकमलस्य चरणस्य सन्तापहारिप्रभावं परमप्रिये रघुनन्दने एव किं न दर्शयसीति[6] व्यज्यते। तेन च तव चरणादेव रघुनन्दनो निस्तापो भविष्यतीति ॥१२॥

कोटित्रयनिजसखीसंवृता कान्तिचकासितकाया।
यामवलोक्य लोक्यते मलिना सोडुसुधांशुच्छाया ॥१३॥

कोटित्रयेति। कोटित्रयनिजसखीभिः संवृता, प्रादुर्भूता जानकीं श्रुत्वा तस्यास्त्रिकोटयः[7] सख्योऽपि समायाता इति भावः। कान्त्या चकासितः कायो यस्याः, सा, या 'जानकीमवलोक्य उडुभिर्नक्षत्रैः सहितस्य सुधांशोश्छाया कान्तिर्मलिना लोक्यते'[8] तां जानकीं पश्येति पूर्वेणाऽन्वयः। अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—हे सखि जानकि! तव शोभातः पराजितश्चन्द्रस्तापं कारं कारं तापमयः सञ्जातस्ततोऽधिकं तापं करोतीति। तेन च तत्र गत्वा त्वमेव रघुनन्दनस्य तापं हरेति ॥१३॥

ईदृशवनिताविरहविषण्णः[9] कथं जीवितुं मनुते।
विश्वनाथकृतगीते गीते[10] रामो मुदमातनुते ॥१४॥

ईदृशेति। ईदृश्या वनिताया विरहेण विषण्णः[11], जीवितुं कथं मनुते? न कथमपीत्यर्थः[12]। विश्वनाथेन कृते गीते, गीते सति जनैरिति शेषः, रामो

---

१. ख ०भार। २. ख सोढी। ३. क एष। ४. ख. विति। ५. ख. ०विराजत०।
६. ख दर्शयतीति। ७. ख. त्रिकोटिय। ८. '–' एतदशस्थाने ख. पुस्तके केवलमयमंश एव दृश्यते-'जानकीमवलोक्यते'। ९. ख. ०विरदविषण्ण। १०. ख. नाऽस्ति।
११. क ख विषण्ण। १२. ०मपीत्यर्थ।

मुदमातनुते विस्तारयति । ईदृशेत्यादिना बह्वीषु वनितासु सतीष्वपि त्वां विना रघुनन्दनस्य न सन्तोष इति व्यज्यते । तेन च जानक्या प्रेमातिशय इति ॥१४॥

प्रतिक्षणातुच्छसमुच्छलच्छवि-
च्छटावलोकस्थगितेन्द्रियव्रजाम् ।
विलोक्य कामा स्वसखीं वसन्तिकां,
प्रगल्भवाग्बोधयति स्म जानकीम् ॥१॥

प्रतिक्षणेति । प्रतिक्षणमतुच्छायाः समुच्छलन्त्याश्च छवेश्छटावलोकेन स्थगित इन्द्रियव्रजो यस्याः सा तां[1], वसन्तिका स्वसखी विलोक्य, प्रगल्भा वाग् यस्या. सा, कामा नाम सखी जानकी बोधयति स्म । पूर्वं श्रीजानकीमवलोकयितुमुत्कण्ठितां सम्प्रति तस्या रूपदर्शनेन स्थितामिव[2] वक्तुमशक्तवती[3] वसन्तिकामवगत्य कामा[4] स्वयमाहेति । स्थगितेन्द्रियव्रजामिति विशेषणेन जानक्या बोधनेऽसामर्थ्यं व्यज्यते । तेन च प्रेमाधिक्यमिति[5] ॥१॥

सुरभिं सखीसमुदय यौवनमपि नायकमनुकूलम्[6] ।
दुर्लभमेकमेकमाकलये किमु सकल सुखमूलम् ॥१॥

एतावताऽपि मानमत्यजन्त्यां जानक्यामीषत्कुपिता कामाऽऽह[7]—सुरभिमिति । सुरभिं वसन्तं, सखीनां समुदयं समूह, नवयौवनं, अनुकूल नायकमपि, एकमेकं सुखमूल[8] दुर्लभमाकलये; सकल दुर्लभमिति किमु वक्तव्यम् ? एतेन[9] सुलभे[10] सकले सुखमूले मान कृत्वैका त्वमेवाऽनभिज्ञेति व्यज्यते । तेन च सुखे दु खकारिणी त्वमेवेति ॥१॥

परमहसपरजनको जनकः सर्वंसहैव जननी ।
[11]रसधायकरघुनायकनायकप्राणसमा या रमणी ॥२॥
तस्या भाति नवीन चरित मच्चित्तेऽतिविचित्रम् ।
मिल मिल मनोमोहन मोहिनि ! जहि जहि मानममित्रम् ॥३॥

परमहसेति । परमहसेषु पर उत्कृष्टः स चाऽसौ जनकः, यस्या जनकः पिता, सर्वंसहा भूमिरेव जननी । रसस्य शृङ्गारस्य धायकः धारणकर्त्ता पोषको वा स

१. क सं । २. क. स्थगिताविव । ३ क. वक्तमशकु । ख. वक्तुवर्ती । ४. मा कामा ।
५ ख नाऽस्ति । ६ ख ०मनुकूलकूलम् । ७. ख. कामा प्राह । ८ ख. सुखमूले ।
९-१०. ख एतन सुलभ । ११. ख. रसध्यायक० ।

चाऽसौ रघुनायकः स चाऽसौ नायकः तस्य प्राणसमा, रमणी या त्वम्, तस्यास्तव मानरूप नवीन चरित मच्चित्तेऽतिविचित्र अत्यद्भुत भाति। अपराध्नुयादपि[1] रघुनन्दन, तथापि तव मानो नोचित इति परमहसेत्यादिपदद्वयेन व्यज्यते। तेन च [2]मातापित्रोरिवाऽऽर्यमनुवर्त्तस्वेति। नवीनमित्यादिवाक्येनेदानी त्वं विक्षिप्ता जानाऽमीति व्यज्यते। प्राणसमेत्यनेन न हि कश्चित्स्वप्राणे भ्योऽपराध्नोतीति। तेन च रघुनन्दनस्याऽपराधसम्भावनैव नाऽस्तीति व्यज्यते। हे मोहिनि! मनोमोहन श्रीरघुनन्दन मिल मिल। एतेन हे सखि! यदि त्व मान करोषि तदा रघुनन्दने मोहनता कथम्, यदा च रघुनन्दनोऽन्यानुरक्तो भवति तदा त्व मोहिनी कथमिति? तेन च माने सत्युभयोर्मोहनत्वमपयातीति व्यज्यते; तेन चाऽकीर्त्तिर्भविष्यतीति उत्तमस्वभाव[3] त्याजयति। स एव शत्रुस्तस्मान्मानरूपममित्र[4] जहि जहि नाशय नाशय ॥२-३॥

मा कुरु मुनिमनन मम वचनं मानय मानय धीरे।
विश्वनाथनाथं रघुनाथ कुरु कुरु करे गभीरे ॥४॥

मा कुर्विति। मुनीनामिव मनन मा कुरु। धीरे! मम वचन मानय[5]। किं ते वचनमित्यत्राऽऽह—विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा नाथ, हे गभीरे! रघुनाथ करे कुरु कुरु। मननेन श्रीरघुनन्दनो मुनीनामेव प्रसन्नो भवति न तवेति मा कुर्विति वाक्येन व्यज्यते। तेन च परधर्मग्रहणस्याऽनौचित्यमिति। कुरु कुर्विति द्विरुक्त्या[6] कालविलम्बतो[7] यथाऽन्याधीनो रघुनन्दनो न भवेदिति व्यज्यते। रघुनाथस्यैवाऽपराधः केनचिन्मिथ्यैव[8] कथितो वा तर्हि मनस्येव त रक्ष। यदा अवसर आपतिष्यति[9] तदा यन्मनसि[10] आयास्यति तत्करणीयमिति गभीरपदेन व्यज्यते ॥४॥

प्रगल्भत्वं तस्याः प्रकटमनुभूयोद्गतरुषाम्,
परीहार[11] सम्यग् वचनरचनाया विदधतो।
सखीनां जानक्या प्रियसहचरी काऽपि चतुरा,
वचांसि व्याजह्रे विशदपदभावार्थघटनम् ॥१॥

---

१ ख. अपराधुपादसि। २. क मातापित्रोरिवर्यवमनु०। ३ क. ०स्वभाव्य।
४. ख ०र्मामिरं। ५ क. मान। ६ ख. दुरुक्त्या। ७ क. ख कालविलंतो।
८. ख ०मियंव। ९ क आपति। १०. क ख. यन्नसि। ११. ख. परिहारं।

प्रगल्भत्वमिति[1]। उद्गता उत्पन्ना रुट् कोपो यासां ताः तासां, जानक्याः सखीनां मध्ये काऽपि चतुरा प्रियसहचरी तस्याः कामायाः प्रगल्भत्वं प्रकटमनुभूय ज्ञात्वा, वचनरचनायाः परिहारं तिरस्कारं, सम्यग्विदधती सती, विशदा पदस्य[2] भावार्थघटना यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा, वचांसि व्याजह्रे भाषितवती। प्रियसहचरीति जानक्या अभिप्रायज्ञेति व्यज्यते। तेन च तद्वृत्तोत्तरे[3] जानक्याः प्रीतिः। चतुरेति—यादृशवचनरचनया कामावचनतिरस्कारो भवेत्, जानक्या अभिप्रायो न प्रकाशेत तादृशवचनरचनाप्रवीणेति भावः ॥१॥

अनभिज्ञाय भूमिजाभावं प्रवदसि मूढे पण्डितमानिनि !
यौवनादि यदि गदसि दुर्लभं तन्नित्ये सम्भवति न भामिनि ! ॥१॥

अनभिज्ञायेति। हे मूढे ! पण्डितमानिनि ! त्वं भूमिजायाः[4] श्रीजानक्याः भावमभिप्रायमनभिज्ञाय प्रवदसि। मूढत्वे हेतुमाह यौवनादीति—हे भामिनि ! कोपनशीले ! यदि यौवनादि दुर्लभं गदसि तत्कथनं नित्ये यौवनादौ न सम्भवति। अस्याः सहनशीलत्वाद्यत् तव मनसि आयायात् तत्कथय; अन्यथा कथं कथयेरिति भूमिजाशब्देन व्यज्यते। भामिनीति पदेन युक्तायुक्तकथनाविचारः। तेन च बोधनानधिकारो व्यज्यते। मूढे पण्डितमानिनीति सम्बोधनपदाभ्यां मूढतातिशयो व्यज्यते ॥१॥

एषा विगतमानमदमत्सरमदनोत्थितमानससन्तापा।
न हि कुपिता प्रियतमतनुचिन्तनजनितमानसानन्दकलापा[5] ॥१॥

एषेति। विशेषेण गतः मानश्च मदश्च मत्सरश्च मदनोत्थितो मानसे सन्तापश्च यस्याः सा, एषाऽस्ति। ईदृशी चेन्मानं[6] कथं कृतवतीत्यत्राऽऽह—न हि कुपितेति। तर्हि रासं कुतस्त्यक्तवतीत्यत्राऽऽह—प्रियतमेति। प्रियतमस्य तनोश्चिन्तनेन स्मरणेन जनितः मानसे आनन्दस्य कलापः समूहो यस्याः सा, एतादृगस्ति। विगतेत्यादिविशेषणेन सापत्न्याभावो व्यञ्जितः। तेन च जानक्या उत्तमस्वीयात्वं व्यज्यते। यैर्मुखारुण्याश्रुपातादिभिः कोपं शङ्कसे ते ध्यानानन्दानुभावाः। कुपिता चेत्तर्हि तव वचनानि श्रुत्वा सरोषं निरीक्षेत एवेति न हि कुपितेत्यादौ भावः ॥२॥

---

१ ख प्रागल्भित्वमिति। २. ख यदस्य। ३. ख. तद्वत्तरे। ४. क भूमियायाः।
५. ०नन्दनकलापा ६. ख चिन्मानं।

अविखण्डितरतिरसपतिमण्डितदम्पतिभेदकरं सङ्कल्पम् ।
जाने जाने जनय न विफल जल्पमनल्पमनेकविकल्पम् ।।३।।

अविखण्डिता रतिर्ययोरत एव रमपतिना शृङ्गारेण परस्परप्रेमातिशयावस्थया मण्डितयोर्दम्पत्योर्जानकीरघुनन्दनयोर्भेदकर सङ्कल्प तव जाने जाने: अतोऽनेके विकल्पाः यस्मिन्स त, जल्प वाक्याडम्बर विफल न जनय । यदि तव सङ्कल्प न[1] जानीयात्[2], तदा भेदो भवेत् । ज्ञाते सङ्कल्पे कथंत व भेदविधानावकाश इति भावः । अविखण्डितेत्यादिवाक्येन त्व वचनभेदेन[3] दम्पती प्रतारयसीति व्यज्यते । तेन[4] चाऽहमेव रघुनन्दनेन विहरिष्यामीति तवाऽभिप्राय इति ।।२।।

पाहि पाहि नोचितमासितमिह गदितुमनुचितं न हि सङ्कुचिता ।
विश्वनायनाथ प्रति कथयति प्रेष्या या प्रेषणविहिता ।।४।।

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहकृते सगीतरघुनदने
कामावसन्तिकागमनं नाम पचमः सर्गः ।।५।।

पाहि पाहीति । पाहि पाहि[5], इह तवाऽऽसितमासनमुचित[6] नाऽस्ति । कुत इति चेत्तत्राऽऽह—यत अनुचितं गदितु सङ्कुचिता[7] नाऽसि, अतो गत्वा या प्रेषणे विहिता योग्या सा भवता[8] प्रेष्येति, विश्वनायस्य शिवस्य कवेर्वा नाथ रघुनाथं प्रति कथय । विश्वनाथमित्यादिना रघुनाथमप्यबोधविषय[9] करोतीति व्यज्यते । तेन च मम पक्षो बुद्धिमत्तर इति ।।४।।

इति सिद्धि[10]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारि-
श्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यग्यार्थचन्द्रिका-
नाम्नि टीकायां पञ्चम. सर्ग ।।५।।

---

१ ख. नास्ति । २. ख. जानीयां । ३. ख. ०भेवन । ४. ख. त्वेन । ५ ख. पाही ।
६. ख. तवासितवासितयासनमुचित । ७. ख. संकुचित । ८. ख. भावता । ९. ०मप्यबोध० ।
१०. ख. सिद्धः ।

[अथ षष्ठः सर्गः]

अमृतमधुरवाणी भेदभेदे[1] कृपाणी,
सकलगुणनिधानं सर्वविद्यानिदानम् ।
विहितपतिनिदेशं प्राप्य सीताप्रदेशं,
विदितरमणशीला चारुशीला ललाप ॥१॥

अथ च कामया तत्र गत्वा कथिते वृत्तान्ते किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह—अमृतेति । अमृतान्मधुरा वाणी यस्याः सा, भेदस्य भेदे[2] नाशने कृपाणीव, सकलगुणानां निधानं सर्वासां विद्यानां[3] निदानम्, विदितं रमणस्य श्रीरघुनन्दनस्य शीलं स्वभावो यया सा, चारुशीला नाम सखी, सीतायाः प्रदेशं, प्राप्य, विहितः कृतः पत्युः रघुनन्दनस्य निदेश आज्ञा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा, ललाप भाषितवती । श्रीरघुनन्दनसन्तापसन्तप्तहृदयत्वादर्थतोऽपि चारुशीलोच्चैरवोचदिति भावः । अमृतमधुरेत्यादिविशेषणैश्चारुशीलाया. जानकीसमीपगमनयोग्यता । तेन च तत्प्रेषितरघुनन्दनस्याऽभिज्ञता व्यज्यते ॥१॥

प्राप्तरासमुखक्षणोऽपि विलक्ष्यवत्पतिरीक्षणे ।
त्यज विचिन्तनमिह विलक्षणमाशु[4] गच्छ सुलक्षणे ॥२॥

एषा रघुनन्दनसन्तापं श्रुत्वोत्थाय चलिष्यतीति सन्तापं निवेदयति—प्राप्तरासेत्यादिना । प्राप्तः रासमुखस्य[5] क्षणो[6] यस्य एतादृशोऽपि पतिः श्रीरघुनन्दनः, ईक्षणे दर्शने सखीनामिति शेषः, विरुद्धं[7] लक्ष्यं लक्षणीयं यस्य स तद्वत् भ्रान्त इवेति यावत्, दृश्यत इति शेषः । यद्यपि प्राप्तः[8] सखीसमूहस्तथाऽपि त्वां विना क्वचिद् विलपति, क्वचिल्लतां[9] प्रति त्वां पृच्छति, क्वचित्त्वां[10] समागतां मत्वा किमपि कथयतीति भावः । अत. हे सुलक्षणे ! इह विलक्षणं चिन्तनं त्यज, आशु गच्छ च, श्रीरघुनन्दनसमीपमिति शेषः । अत्र विलक्षणमिति पदेन प्रत्यक्षस्य ध्यानमनुचितमिति । तेन च ध्यानं प्रियस्य सुखकारि नेति व्यज्यते । सम्प्रति विक्षिप्तसदृशः यदा विक्षिप्त एव भविष्यति तदा चलित्वा किं करिष्यसीति आशु गच्छेत्यस्य व्यङ्ग्यम् ॥१॥

---

१ क ०वाणीभेदने । २. क. भेदने । ३. ख. विद्याना । ४. ख. ०माशुग ।
५. ख. रासमुखस्य । ६. ख. क्षणे । ७. ख. विरुद्धं । ८. ख. प्राप्ति ९. ख. कुचिल्लताः ।
१०. ख. कुचित्वां ।

पाणिगतमपहाय मणिमङ्गीकरोषि[1] सुकाचकम् ।
लक्षसे न हि यत्समक्षमपि प्रिय प्रियवाचकम् ॥२॥

इति कथितेऽप्यनुत्थिता[2] दृष्ट्वाऽऽह—पाणिगतमिति । यत्प्रियवाचक प्रियवक्तार, प्रिय श्रीरघुनन्दन, समक्ष न लक्षसे, तत्पाणिगत मणिमपहाय सुकाचकमङ्गीकरोषि । यथा काश्चिन्मणि[3] त्यक्त्वा स्वबुद्धिकल्पनया मणित्वेन काच गृह्णन्ति[4] तथा प्रत्यक्ष प्रियवक्तार प्रिय त्यक्त्वा स्वकल्पित[5] ध्यानगतमेव प्रत्यक्षत्वेन मन्यस इति भाव । अत्रेद व्यङ्ग्यम्—प्रत्यक्षमपि श्रीरघुनन्दन न पश्यसि तर्हि ध्याने कथ पश्येरिति ? तेन च त्व वृथैवाऽक्षिणी निमीलयसीति ॥२॥

प्रियमुदे प्रियपादचिन्तनमस्ति किं प्रियतापदम् !
मुञ्च मुञ्च दृगञ्चल मृगलोचनेऽपहराऽऽपदम् ॥३॥

अह तमेव चिन्तयामि, मदुपरि प्रसन्न एव भविष्यतीति चेत्तत्राऽऽह—प्रियमुद इति । प्रियस्य तापदं, प्रियस्य पादयोश्चिन्तन किं प्रियस्य मुदे प्रीतयेऽस्ति[6] अपि तु नैवाऽस्ति, नहि कश्चित् तापदानेन प्रसीदति[7] इति भाव । अतो हे मृगलोचने ! दृगञ्चल मुञ्च मुञ्च, आपद श्रीरघुनन्दनस्य विरहतापमपहर दूरीकुरु । त्वया दृगञ्चले मोचिते स आपन्मुक्तो भविष्यतीति भावः । अत्र मृगलोचने इति सम्बोधनेन निजेन्द्रियाणि पूर्वस्वभावे स्थापयेति व्यज्यते । तेन च ध्यानशैथिल्य व्यक्त्वा रघुनन्दन सुखयेति[8] ॥३॥

त विना न सुख तवाऽपि न चाऽन्यथा तव चिन्तनम् ।
विश्वनाथसुनाथचरित्त वर्णित कलिकृन्तनम् ॥४॥

त विनेति । यथा त्वा विना श्रीरघुनन्दनस्य सुख नाऽस्ति तथा रघुनन्दन विना तवाऽपि सुख नाऽस्ति । अन्यथा[9] तव चिन्तन त्वत्कर्तृक ध्यान न सम्भवति । एतेनोभयोर्दुःखद ध्यान त्यजेति व्यज्यते । विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा सुनाथयोर्जानकीरघुनन्दनयोश्चरित वर्णित सत्कलेः कलहस्य कृन्तन छेदक भवति । एतेन यदि युवामेव[10] कलह कलयथ, तदा युवयोश्चरित[11] वर्णयता कलहनाश कथ घटेतेति व्यज्यते । तेन च कलहाद्विरमेति ॥४॥

---

१. ख मडिम० । २. ख. ०प्यनुत्थितो । ३ ख. कश्चिन्मणि । ४. क गृह्णा । ग गृह्णाति । ५. ख सुकल्पित । ६. क प्रीतिये० । ७. क. प्रसीद । ८. क. सुखयेति । ९. क. अन्याथा । १०. क. युवामे । ११. ख युवश्चरितं ।

भावं जनकसुतायाः ज्ञात्वा वचनं चारुशीलायाः ।
साभिप्रायं कमला स्मितानना तामुवाचेदम् ॥१॥

भावमिति[1] । तां चारुशीला इदं वक्ष्यमाणं यद्यपि श्रीजानक्या ध्यानमेव जानाति तथापि मानचरिते रसातिशयः[2] स्यादिति जानकीरघुनन्दनयोरभिप्रायं[3] ज्ञात्वा मानं व्यञ्जयन्ती चारुशीला ध्यानं त्याजयतीति स्मिताननत्वे हेतुः । आश्चर्यमस्याश्चातुर्यमिति स्मिताननेति पदेन व्यज्यते । तेन च तद्रीत्यैवाऽस्या[4] वितरिति[5] ॥५॥

वेत्सि नर्म न देवयोस्त्वं सखि वृथा श्रम एष ते ।
काङ्क्षसे दूतीयशस्त्वयि[6] तन्न लक्षणमीक्ष्यते ॥१॥

वेत्सीति । हे सखि ! देवयोः[7] श्रीजानकीरघुनन्दनयोर्नर्म रहस्यं न वेत्सि । अतस्ते[8] एष वार्त्तारूपः श्रमो वृथा । त्वं मानिन्यनुनयनरूपं[9] दूतीयशः[10] काङ्क्षसे, तस्याः [दूत्या लक्षणं त्वयि नेक्ष्यते । अत्र वृथा श्रम इत्यनेन वचनाडम्बरं कुर्विति व्यज्यते । तेन च तस्याः अनभिज्ञत्वम् । इदं तावद्दूतीलक्षणं सति मा][11] ने यन्मानमस्थापयित्वैव[12] त्याजयति, "असति माने ईदृग्वचनमनुचितमिति काङ्क्षसे इत्यादिना व्यज्यते"[13] ॥१॥

यत्कृते स्थितयाऽनया ध्यानं न मोक्तुं[14] शक्यते ।
तस्य वेत्ता विश्वनाथप्रियेतरो[15] न विलोक्यते ॥२॥

यत्कृत[16] इति । यस्य कृते स्थितया अनया[17] जानक्या ध्यानं मोक्तुं[18] न शक्यते, तस्य वेत्ता विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा प्रियात् श्रीरघुनन्दनादितरो न विलोक्यते । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—जानन्नपि[19] जानक्यभिप्रायं श्रीरघुनाथस्त्वादृशीमनभिज्ञा[20] सखी[21] प्रेषितवान्[22] इति । तेन च तस्मै[23] अपि मानिन्यनुनयनमेव[24] रोचत इति ।

---

१. ख. भेनमिति । २ ख. रसातिशया । ३. ख. ०रघुनन्दयो० । ४. ख. तद्दत्यै० । ५. ख. उत्तरिति । ६. ख, इतियशस्त्वयि । ७. क देदयोः । ८. क ख अस्ते । ९. ख. मानिम्यनुन० । १०. ख इतियशः । ११. [—] कोष्ठस्थोऽश. क पुस्तके नाऽस्ति । १२ ख ०मस्थापयित्वैव । १३. "—" चिह्नान्तस्थोऽशोऽपि क पुस्तके नाऽवलोक्यते । १४ ख. मोस्तुं । १५. क. विश्वनाथतरो । १६ क अयत्कृत । १७ क ख अतया । १८. ख. मोक्षं । १९. ख. जान्नपि । २०. ०स्त्यादशीमनभिज्ञा । २१. क. ख. सखी । २२. क. प्रोषितवान् । २३. ख. तस्यै । २४ ख. मानिन्यतुनयन० ।

अभिभवमिव मत्वा स्वस्य मध्ये सखीना-
मिति निगदितमस्या.[1] साधु नाऽऽकर्ण्य सम्यक् ।
प्रकटितदरकोपा स्वीयनामार्थमानात्[2],
पुनरविदितभाव चारुशीला जगाद ॥१॥

अभिभवमिति । सखीना मध्ये स्वस्याऽभिभवमनादरमिव मत्वा अस्याः कमलाया इति पूर्वोक्त, साधु निगदितं सम्यक् नाऽऽकर्ण्य, स्वीयस्य चारुशीलेति नाम्नः अर्थस्य मानात्प्रकटितो दर ईषत्कोपो यया सा चारुशीला नाम सखी, न विदिता भावोऽभिप्रायो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा, पुनर्जगाद । चारुशीलेति—श्रीजानकीरघुनन्दनौ मम चारु शील ज्ञात्वा चारुशीलेति मा कथयत. । इयन्तु मा तिरस्करोतीति दरकोपवतीति भाव । रघुनन्दन एवाऽऽयास्विति कमलाभिप्रायमनभिज्ञाय जगादेत्यनेन रसातिशयाय जानक्या तथैव मान स्थापितवतीति[3] व्यज्यते । तेन च श्रीरघुनन्दनस्य मानिन्यनुनयनाभिरुचिर्मया[4] ज्ञातेवेति ।

प्राप्य मुग्धामिवेमामसि[5] सखी भेदयितुम्प्रियौ ।
सन्दधासि न दम्पती यदिमौ समागतविक्रियौ[6] ॥१॥

प्राप्येति । इमा जानकी मुग्धामज्ञामिव प्राप्य प्रियौ श्रीजानकीरघुनन्दनौ भेदयितु सख्यसि । इति कुतो ज्ञातमिति चेत्तत्राऽऽह—यत् यतः, समागता विक्रिया विकारो ययोस्तौ, इमौ दम्पती जानकीरघुनन्दनौ, न सन्दधासि । एषा मुग्धा नाऽस्ति, यदा त्वत्कर्म ज्ञास्यति तदा कोपमेव करिष्यतीति मुग्धामिवेत्यत्र व्यङ्ग्यम् । तेन च त्वं सखीमध्ये न स्थास्यसीति[7] [पूर्वपदेन यदुक्त रघुनाथादन्यो जानक्यभिप्राय न जानातीति तर्हि त्व च जानासि चेत्कथमिति][8] कथयसि । जानक्यभिप्राय जानन्त्यपि तौ न सन्दधती त्वमेव तौ[9] विजयसीति[10] सन्दधासि नेत्यादिवाक्येन व्यज्यते । तेन च त्वमेवाऽपराध्यन्ती[11] मां प्रतारयसीति ॥१॥

मानलाभे मानिनी[12] त्व मानखण्डनपण्डिता ।
विश्वनाथसुनाथसभा[13] द्विकोटिवनिता मण्डिता ॥२॥

---

१. क. ०मस्या । २. ख. स्वीयनामर्थ० । ३. क. स्थापिवतीति । ४. क. ०रुचिर्णया । ५. ख. ०गिवेसामसि । ६. ख. गतविक्रियौ । ७. क. स्थाप्यसीति । ख स्याससीति । ८ [–] एतद्गाशस्याऽभाव ख. पुस्तके । ९ ख. नौ । १०. ख वियोजयसीति । ११. ख. ०ऽपराध्यति । १२ ख माननी । १३. ख. विश्वन सुना० ।

भयमन्तरा न जायते प्रीतिरिति विचार्य्याऽऽह—मानलाभ इति । मानस्य सत्कारस्य[1] लाभे सति मानिनी भवतीति शेषः । त्वं मानस्य खण्डने पण्डिताऽसि, तदेव शिक्षयसि, येन मानभङ्गः स्यादिति भावयतः[2] विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा सुनाथस्य रघुनाथस्य सभा द्विकोटिवनिताभिर्मण्डिता । एतेन त्वां विना किं रघुनाथस्य सभा[3] रिक्ता भविष्यतीति व्यज्यते । तेन च मयि गताया न काऽप्यागमिष्यतीति ॥२॥

एकेन पूर्वमवदत् कमला पदेन,
गीते द्वितीयचरणेन च चारुशीला ।
अस्या विशीर्णमवलोक्य सुवाक्यमानं,
सिद्धान्तमेव कमला सकलेन पश्चात् ॥१॥

एकेनेति[4] । गीते पूर्वमेकेन पदेन कमला अवदत्, ततो द्वितीयचरणेन चारुशीला अवदत्,तत अस्याश्चारुशीलाया. सुवाक्यस्य मानं विशीर्णं नष्टमवलोक्य कमला पश्चात् सकलेन गीतेन सिद्धान्तमेव जगाद ॥१॥

युध्यते किमु गम्यतामसमञ्जसं[5] विदधासि किम् ।
कथय सखि[6] कमले त्वमेव विचार्य्य समुचितमस्ति किम्[7] ॥१॥

कमला चारुशीलां प्रति वदति—युध्यत इति । त्वया युध्यते किमु ? इतो गम्यताम्, किमसमञ्जसं विदधासि ? अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—त्वं दूत्यपि समयानभिज्ञाऽसीति । तेन च नाऽयं भवद्दर्शनकालं,[8] किन्तु विनयकाल एवेति व्यज्यते । इति श्रुत्वा चारुशीला विवादं वर्द्धमानमालक्ष्य[9] श्रीरघुनन्दनकार्यंसिद्धयै मृदूभूय[10] कमलामाह—कथयेति । हे सखि कमले ! त्वमेव विचार्य्य कथय सम्यगुचितं किमस्ति ? एतेन स्वस्मिन्मानापमानविचाराभावो[11] व्यज्यते । तेन च उत्तमदूतीत्वमिति । श्रीरघुनन्दनगतजानकीविरहदुःखदर्शनसन्तप्तहृदयाया. मम[12] कर्त्तव्ये उचितमनुचितं च न भासते इति भाव. ।

सेवयैव प्रसाद्यते कविता लता वनिता धनी ।
विश्वनाथसुनाथमिति वद गच्छ सम्मतिसाधनी ॥२॥

---

१. ख. त्कारस्य । २. ख. भावः यत. ३. ख. समा । ४. क एकेने पूर्वंति । ५ ख. ०नसमतस । ६. क सरसि । ७. ख कम् । ८ ख भयदर्शन० ९ ख. वर्चमानं० । १० क मद्रूय । ११ ख.० माताऽपमान० । १२. क सम ।

इति श्रुत्वा कमलोपायमाह—सेवयेति[1] । कविता तथा लता तथा वनिता तथा धनी सेवयैव प्रसाध्यते इति विश्वनाथ[2] सुनाथ श्रीरघुनाथ वद[3] । सम्मतेः साधनी उभयोरैक्यविधायिनीति यावत् । श्रीरघुनन्दनानयनमन्तरा जानकी ध्यान न त्यक्ष्यतीति सेवयेत्यादौ व्यङ्ग्यम् । तेन च तेनैव त्वदभीष्ट-सिद्धिर्भविष्यतीति व्यज्यते ॥२॥

श्रुत्वा वाक्य रमाया मधुरमतिहित चारुशीलासुवाचा,
वाचा सन्तोषयिष्यन् प्रचुरचतुरताचारुमाधुर्यभाजा ।
[4]भाजालोल्लासिताङ्गी प्रियनुतिमतुलप्रेमसञ्जातकामो-
ऽकामो[5] य वीक्ष्य कामी भवति जनकजामेत्य रामोऽध्यगासीत् ॥१॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनन्दने चारुशीलाकृतमनुनयनवर्णन नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

श्रुत्वेति । अकामो[6] मुनिरपि जातावेकवचन, य वीक्ष्य कामी काम-युक्तो भवति । स रामः चारुशीलाया सुवाचा, रमायाः कमलायाः मधुरमति-हित वाक्य श्रुत्वा अतुलेन प्रेम्णा[7] सञ्जात. कामो जानकीदर्शनाभिलाषो यस्य[8] स., प्रचुरचतुरताचारुमाधुर्यभाजा[9] वाचा सन्तोषयिष्यन्, भाजालेन प्रभासमू-हेनोल्लासिताङ्गी, प्रिया नुतिर्यस्याः सा[10] ता[11], जनकजा एत्य प्राप्य अध्यगासीत् गान कृतवान् । अत्र प्रियनुतिमिति पदेन जानक्या आशुतोषता[12] व्यञ्जिता । तद्भजनेन[13] च स्तुत्या[14] प्रसन्ना रघुनाथापराध न गणयिष्यतीति[15] स्वाभीष्टामेव श्रीजानकीसेवां कमला कथितवतीति अतिहितमिति पदेन व्यज्यते । तेन च प्रहर्षणालङ्कार इति ।

इतिसिद्ध[16]श्रीमहाराजाधिराजश्रीमहाराजाश्रीराजाबहादुरसिंह-
श्री[17]रामचन्द्रकृपापात्राधिकारि[18]श्रीविश्वनाथसिंहकृतायां
व्यंग्यार्थचन्द्रिका नाम[19] टीकायां षष्ठ.[20] सर्ग ॥६॥

---

१. ख. सेवएति । २. ख. विश्वनाथस्य । ३. ख पद । ४. क.ख भाजालोल्लोसि० ।
५. क. नास्ति । ६. क. आकामो । ७ क. प्रम्णा । ८. ख. रास्य । ९ ख ०चतुरताचारुता०
१०. ख. णा । ११. ख तं । १२ ख. आष्टतोषता । १३ क. ख. तध्वंजनेन ।
१४. क. च स्तुत्मा । १५ ख. गणिण्यतीति । १६. ख. सिद्ध. । १७. श्रीमन्महाराजाधिराज-सीता । १८. ख. ०पात्राधिकार । १९. ख. नाम्नि । २०. क. पट ख. षष्ट. ।

[अथ सप्तमः सर्गः]

जयति तव रमणि ! चरणकमलम्,
विधिमहेशमाधवमानसमधुकरसेवितममलम्[1] ॥१॥

जयतीति । विधिमहेशमाधवानां मानसान्येव मधुकरास्तैर्मण्डित भूषितममल, हे[2] रमणि ! तव चरणमेव कमल जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । एतेन ब्रह्मादीना साक्षाद्दर्शनदुर्लभता व्यञ्जिता । दुर्ल्लभतया च नित्यं तद्दर्शनवानह[3] धन्य इति व्यज्यते ॥१॥

धारण यद्वरजसः[4] सुकृतम्,
रोमरोमजगदण्डमण्डल पवते मदनगतम् ॥२॥

धारणमिति । यस्य चरणकमलस्य रजस[5] धारण सुकृत, धारणरूप[6] पुण्य कर्त्तुमपि अनुगत प्राप्त रोमरोमसु जगदण्डमण्डल पवते पवित्रयति । अत्र ख्यस्य विराजः शरीरितयेत्थमुक्तिः[7] । एतेन त्वच्चरणरजःपूतप्रतिरोमब्रह्माण्डमण्डले[8] मय्यपराधशङ्काभावान्मान त्यजेति प्रार्थना । तया च ब्रह्मादिपरश्रीरघुनन्दनसेवितचरणरजस्कत्वात्तस्या सर्वतः परत्व[9] व्यज्यते ॥२॥

सरसयावकमरन्दवलितम्,
वरतलललितान्तस्कामदरेखाकेशरकलितम्[10] ॥३॥

सरसेति । सरस यद्यावकं तदेव मरन्दस्तेन वलित युत, वरं सुन्दरं तलमेव ललितमन्तरं कमलमध्य[11] तत्र कामदरेखा एव केशरास्तैः कलितम् । अत्र कामदपदेन तव चरणरेखास्तावकं[12] मां पूर्णमनोरथ करिष्यन्त्येवेति व्यज्यते । तेन च तव मानकरण निष्फलमिति ॥३॥

नखरजलपृषदङ्गुलीदलम्[13],
विश्वनाथमानसमरालवरपरिषेवितमचलम्[14] ॥५॥

नखरेति । नखरा एव जलस्य पृषन्ति[15] विन्दवो यस्मिंस्तत्, अङ्गुल्य

---

१. ख. ०मधुकरमण्डित० । २ क. हरे । ३ क तद्दर्शनवाहं । ४ ख यद्रतसः ५ ख. जस । ६. ख. धारणरयं । ७ ख शरीरतये० । ८. क. ०पूतप्रतिरोष० । ९. क. सरत्वं । १० ख. ललितान्तरकामद० । ११. क कामल मध्य । १२. ख. चरणरेखा० । १३. नखरजत० । १४. क. परिषेचित० । १५ क षृपात ।

एव दलानि यत्र तत्, विश्वनाथमानसमेव मरालवरो हसश्रेष्ठस्तेन परिषेवितम्, अचल स्थिरम्। विश्वनाथेत्यादिना सदा मम मनस्त्वच्चरणासक्तमेवेति[1] व्यज्यते। तेन च प्रसीदेति। अचलमिति पदेन सम्प्रति सर्वथा कमलसमतया शोभित चरणं स्वगतिविलासेनाऽधिक[2] विधेहीति व्यज्यते ।।४।।

जयसि सर्वेशमणिमुकुटवन्द्ये[3] स्ववशरसमयतनो !
विमलमुन्मयमनो बहुलविबुधेन्द्रवनिताभिनन्द्ये ! ।।१।।

जयसीति। सर्वेशाः ब्रह्मादयस्तेषा मणिः श्रेष्ठ परनारायणः तस्याऽपि मुकुट. श्रेष्ठोऽह तेन वन्द्ये[4] ! त्व जयसीत्यन्वयः। एतेन सकलेशप्रणतपदारविन्देन[5] मयाऽपि[6] स्तूयमाना मानिनी त्वामन्यः को नु प्रसादयिष्यतीति व्यज्यते। तेन चाऽनुनयस्याऽवधिरिति। स्ववशा स्वाधीना[7] रसमयी आनन्दरूपा तनुर्यस्याः सा तत्सम्बुद्धि., स्वतन्त्रा भवन्ती किमहमाज्ञापयामि[8], स्वयमेव जानीहीति स्ववशेति पदेन व्यज्यते। रसमयतनो[9] इति विशेषणेन आनन्दमयशरीरेण मह्यं दुःखदान तव नोचितमिति व्यज्यते। विमलो मुन्मय आनन्दरूपो मनुर्मन्त्रो[10] यस्या. सा तत्सम्बुद्धि.। एतेन त्वदानन्दमयनामरूपमन्त्रजपकर्त्तुर्मम कुतो न विरहतापि दूरीभवतीति चित्रमिति व्यज्यते। बहुलाभिर्विबुधेन्द्राणां ब्रह्मादीनां वनिताभिरभिनन्द्ये[11] एनेन पातिव्रत्ये श्लाघमाना. सकलपतिव्रताः सम्प्रति मानमजहन्ती त्वा हसिष्यन्तीति व्यज्यते। तेन च तासा सख्यमिति। विबुधेन्द्रा अत्र ईशमहेश्वरेत्यादिपदव्याख्योक्ता. साकेतवासिनो विवक्षिता.[12] ।।१।।

इन्दिरामन्दिरारुणचरणपङ्कजे ! भूक्रियावदनदर्पणनखाली ।
सद्गुणालङ्कृते केलिविधिपण्डिते प्रिये ! मम मञ्जुमानसमराली ।।२।।

इन्दिरामन्दिरेति[13]। इन्दिरायाः श्रीदेव्याः मन्दिर निवासस्थान अरुणचरणमेव पङ्कज यस्याः सा तत्सम्बुद्धि, भूक्रिययो. भूदेव्या लीलादेव्याश्च[14] वदनस्य दर्पणे[15] नखाली नखपङ्क्तिर्यस्या. सा, एतेन एताभिस्तिसृभिर्मम[16] मुख्यशक्तिभिः सेवितपदारविन्दा सापत्न्याभाववती त्व कुतो मान कृतवतीति

---

१. क. ख चरणाशक्त०। २ ख. स्वागति०। ३. ४ ख, वघे। ५ ख शकलेश०। ६. ख मद्यापि। ७. क रवाघीना। ८ ख. किमहप्राज्ञा०। ९ ख ग्समयततो। १०. क. मनमंत्रो। ११. क. नद्या। १२. ख. विविक्षिता। १३. क. नास्ति। १४. ख लोलापाश्च। १५. ख. दर्पणो। १६. ख. तिसृभिर्म।

व्यज्यते । सद्गुणेत्यनेन पत्या स्तूयमानायास्तवाऽक्षिणी[1] निमील्योपवेशनं नोचितमिति व्यज्यते । केलिविधिपण्डितेत्यनेन तवाऽविधिकरणं नोचितमिति व्यज्यते । तेन च त्वया लीलार्थमेव मानः कृत इति । मञ्जुमानसमरालेत्यनेन मम कश्चिदपराधो न वेति त्वमेव विवेचयेति[2] व्यज्यते ॥२॥

सततमनमर्षिणी[3] रसराजवर्षिणी,
रतिमानकर्षिणी दीप्तिराशेः ।
जलधिनिमिराजकुलजनितसुकलानिधे,
ज्वलितमदनानलज्वरविनाशे ॥३॥

सततमिति । अनमर्षिणी कोपशून्या, एतेनेदानीं त्वयि कोपः कुत आगत इति व्यज्यते । रसराजस्य शृङ्गारस्य वर्षिणी, एतेन त्वयि विद्यमानायामपि[4] कुतस्तापः[5] इति रसशब्दश्लेषमहिमा[6] व्यज्यते । रतेर्मानस्याऽभिमानस्य कर्षिणी, एतेन मत्प्रीतिपात्रं त्वदन्या नाऽस्त्येवेति व्यज्यते । तेन च मानानौचित्यमिति । दीप्तेः छवेः[7] राशेर्जलधिरिव यन्निमिराजकुलं तत्र जनित[8] सुकलानिधिस्तत्सम्बुद्धिः[9] । एतेनेदृशकुले जातायास्तवेदृशं चरितं नोचितमिति व्यज्यते । ज्वलितस्य मदनानलज्वरस्य विनाशो यस्यास्तत्सम्बुद्धिः । एतेन जानक्याः सन्तापनाशकस्वभावत्वम् । तेन च मामालिङ्ग्य सुखयेति व्यज्यते ।।३।।

चित्रमिदमत्र यद्दहति तनुमतनुरिह तव समीपेऽपि मामिवानाथम् ।
मानमवमुञ्च परिषिञ्च वचनामृतैरिति[10] वदन्हरिरवतु विश्वनाथम् ॥४॥

चित्रमिति । इह तव समीपे अतनुः[11] कामः, अनाथमिव तनुं[12] कृशं[13] मां यद्दहति—इदमत्र चित्रम् । अतो मानमवमुञ्च त्यज । वचनामृतैः परिषिञ्चेति[14] वदन् हरिभक्तार्त्तिहर्त्ता श्रीरघुनन्दनः विश्वनाथमवतु । चित्रमित्यादिवाक्येन त्वादृशसमर्थनाथसमीपे[15] मम तथा मदनकृतदाहस्य विषादो न भवति यथा[16] तव सामर्थ्यहानेरिति व्यज्यते । तेन च रक्षैव कर्त्तव्येति । परिषिञ्च

---

१ तवाक्षिणि । २. ख. विचारयेति । ३. ख, सततमण० । ४ क विद्यमानयामपि ।
५. क ०स्तापे । ६. ख. श्लेषमहिम्ना । ७ ख. क्षेवः । ८ जानिता ।
९. ख सकुलानिधि० । १०. ख. ०मृतैरिति । ११ ख प्रतनः । १२ ख नास्ति ।
१३ ख. कृशं । १४. ख. परिषिंचति । १५ ख त्वादृसमर्थ० । १६. क. तथा ।

वचनामृतैरित्यनेन त्वद्वचनेनैव मम जीवनमिति व्यज्यते । स्वरक्षणप्रार्थनेनेदृशविरहस्य वर्णने कवेर्भीतित्व[1] व्यज्यते ॥४॥

वाञ्छितदे[2] कलगीते सीते !

तव शृङ्गारविधावभिलाष पूरय मयाऽनुगीते ॥१॥

एतावताऽप्यनपगते माने एषा ध्यानमेव करोतीति विचार्य प्रार्थयन्नाह—वाञ्छितदे इति । हे वाञ्छितदे, कलगीते ! कलगीत गानं यस्यास्तत्सम्बुद्धिः, मयाऽनुगीते तव शृङ्गारविधौ[3] ममाभिलाष पूरय । अत्र कलगीते इति विशेषणेन गीतज्ञोऽन्यगीत[4] श्रुत्वा मौनो न भवतीति व्यज्यते । तेन च मम गीत सदमद्वेति कथयेति । सिनोति बध्नाति जीवानिति सिनोतेर्विच्प्रत्यये कृते 'सि' ससारवन्धन[5] तत्[6] इत गत यस्या सा मीता, ससारबन्धननिर्मुक्तिहेतुरित्यर्थः । एतेन यस्यास्तव नामैव ससारबन्धन मोचयति,[7] सा त्व स्वकीय ध्यान बन्धन न मुञ्चसीति चित्रमिति व्यज्यते । स्यति हन्ति दुःखानि स्वभक्तानामिति स्यतेरौणादिक ईतक्प्रत्यये सीता, स्वीयदुःखहन्त्रीत्यर्थः[8] । एतेन मानसम्भावनया दुःखिताना सखीना दुःख यदि ध्यान त्यक्त्वा न[9] दूरीकरोषि तदा तव नाम्नो वैयर्थ्यं भवेदिति व्यज्यते । एन विष्णुना सहित मा समुद्र, विष्णोः समुद्रशायित्वात् तस्यापत्यं स्त्री मी लक्ष्मी तद्वदिता प्राप्तेति सीता, यथा विष्णुना लक्ष्मीः प्राप्ता तथा श्रीरघुनन्दनेन सीतेत्यर्थ[10] । एतेन लक्ष्म्यास्तु एतादृशं ध्यानं न श्रुत, त्व कथ करोषीति व्यज्यते । यद्वा इना सहित सि सकाम श्रीरामचन्द्राभिध ब्रह्म तदिता[11] प्राप्तेत्यर्थः । श्रीरामचन्द्रः कामपूरक इति यावत् । एतेनेदानी ध्यान त्यक्त्वा मम कामान् कथ न पूरयसीति व्यज्यते ॥१॥

विलसितमृदुतरपदपद्मं ते मुनिमनसामनुमेयम् ।

तदुपलम्भन शयस्य भविता किमतः पर विधेयम् ॥२॥

शृङ्गारविधाने तव को लाभ इति चेत्तत्राह—विलसतीति । मुनिमनसामनुमेय अनुमातुं योग्यम्, ते मृदुतरपदपद्म विलसति शोभते । तस्य तव चरणकमलस्य उपलम्भन स्पर्शो मे शयस्य करस्य भविता[12] भविष्यति । अतः पर किं विधेयम् ? न किमपीत्यर्थः । तव चरणसेवातोऽधिकः कोऽपि पदार्थो

---

१ ख. ०र्भीतत्व । २ ख. वाञ्छितदे । ३ ख शृङ्गाविधौ । ४ ख गीतज्ञाऽनन्यगीत । ५ ख ०वन्धनकर्तृ अज्ञान । ६. ख. नत् । ७. ख. मोक्षयसि । ८ ख स्वीयदुःखश्रीन्त्यर्थं । ९. ख. नि । १०. सीत्यर्थं । ११. क. नदिता । १२ ख भाविता ।

नाऽस्तीति भावः । विलसतीत्यादिना[1] ज्ञानेन्द्रियसाक्षात्कारेऽपि न कामिना कामसन्तापहानि., किन्तु कर्मेन्द्रियव्यापारादेवेति व्यज्यते । तेन च मद्दर्शनादेवाऽय सुखीति त्वया न विचारणीयमिति । किमतः पर विधेयमित्यनेन त्वत्प्रसादो भविष्यत्येवेति व्यज्यते । तेन च मम तापहानिर्भविष्यत्येवेति ॥२॥

न समाधि मुञ्चसि न च कलयसि मामुपगतमुपकण्ठम् ।
स्वेदसुगन्धितनिजगलमालामुपगमये तव कण्ठम् ॥३॥

स्ववचनाश्रवणात् ध्याने समाधि सम्भाव्याऽऽह[2] न समाधिमिति । त्व समाधि न मुञ्चसि, न च उपकण्ठ समीपमुपागत प्राप्त मा कलयसि जानासि[3] । स्वेदेन[4] सुगन्धिता चाऽसौ निजगलस्य माला च तां, तव कण्ठमुपगमये प्रापये । अत्र पतिताया मालायां समाधिर्न स्थास्यतीति श्रावणे सखीना दौश्चित्यहरणमाशयः । एतावताऽपि यदि समाधि न मुञ्चसि तदा तदिद ध्यान सत्य मस्ये[5] ज्ञास्यामीति[6] । विश्वनाथनाथस्य निगदित सरस रसरूपभक्तिसहित सौमत्य सुमतिभाव, रसरूपभक्तिसहित ज्ञान दिशतु ददातु इत्यर्थः । एतेन शुष्कज्ञान वर्ज्यमिति व्यज्यते । तेन च समाधिमित्यादिचरणत्रयेण प्रियोपभुक्तवस्तुससर्गस्याऽतिमनःक्षोभकत्वम्[7] । तेन च समाधिसङ्गमसुखात् साक्षात् सङ्गमसुखधिकमिति व्यज्यते ॥३॥

निमिराजसुता विचिन्तयन्ती रमण रासपरायण हृदब्जे ।
समवाप्य सुमालिकासुगन्ध सहजस्नेहसमाकुलाऽऽलिलिङ्ग[8] ॥१॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनदने
श्रीजानकीसमागमो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

निमिराजेति स्पष्टम् । अत्र सहजस्नेहेत्यनेन यथापूर्वमिति व्यज्यते । तेन च मानात्यन्ताभाव इति ॥१॥

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकाया पञ्चमः सर्ग. ॥७॥[9]

---

1 क विलसीत्यादिना । २ ख. समावाह । ३. क. जानसि ४ ख खेदेन ।
५. ख. मसे इ । ६. ख. ज्ञास्यामि इति ७ क. ०ससर्गस्यातिमन क्षीपकत्व ।
८. ख.०लालिग । ९. ख. इति सिद्ध. श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीमहाराजश्रीराजाबहादुरसीतारामचंद्रकृपापात्राधिकारविश्वनाथसिंहकृताया व्यग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकायां सप्तमः सर्ग. ॥७॥

[अथ अष्टमः सर्गः]

परस्पर तावतिविभ्रमेण भृश विषक्तावभिवीक्ष्य कान्तौ ।
रह सखी कामपि काऽपि काम समुद्गतानन्दभर बभाषे[1] ॥२॥

परस्परेति । रह सखी एकान्तसखी, विभ्रम आनन्दजनितः परस्परमिलनयोरातुरतातिशयस्तेन[2] विपक्तौ गाढमिलितौ । एतेनोभौ परस्परमेकीभवनमिच्छत इति व्यज्यते । तेन च प्रेम्ण. परा काष्ठेति । रह.सखीत्यनेन जानकीरघुनन्दनयोस्ततो लज्जाभावो व्यज्यते ॥२॥

पश्येमौ सुखसिन्धुनिमग्नौ रूपराशिसम्भरणासक्तौ[3],
न हि तृप्तौ मनसा सलग्नौ ॥१॥

पश्येति । हे सखि ! इमौ जानकीरघुनन्दनौ पश्य । सुखसिन्धुनिमग्नौ, रूपराशे सम्भरणे आसक्तौ, तथाऽपि न हि तृप्तौ, मनसा सलग्नौ । न हि तृप्तावित्यनेनोभयोर्नवनवच्छवेरालोकन व्यज्यते । तेन च तयोरुत्कण्ठाधिक्यमिति ॥१॥

[4]बिम्बतनुप्रतिविम्बितविनिमिषदम्पतिदृग्विगलत्सुखनीरम् ।
मन्येऽतनुकृतविश्वनाथहितमन्दिरदेवस्नपनक्षीरम् ॥२॥

विम्बेति । विम्बाभ्या तनुभ्या प्रतिबिम्बिते इतरेतरशरीरप्रतिविम्बशोभिते[5] विनिमिपे निर्निमेपे[6] ये[7] दम्पत्योर्जानकीरघुनन्दनयोर्दृशौ[8] नेत्रे ताभ्या विगलत्सुखनीर, अतनुना[9] कामेन कृत च तत् विश्वनाथहितयोर्मन्दिरदेवयोर्जानकीरघुनन्दनप्रतिमयोः [स्नपनस्य क्षीर च तत्, अह मन्ये । स्नपनजल दृश्यते, स्नापायिना न दृश्यतेऽतोऽतनुरित्युक्तम् । मन्दिरदेवोपमया प्रतिबिम्बस्य निश्चलत्व व्यज्यते । तेन चोभयो. स्तम्भ इति][10] ॥२॥

दम्पतिमिलने प्रमदागणकृतजयजयशब्दकदम्बम् ।
बहुजगदण्डभाण्डसश्रयरुचिरोभुवने लभते नाऽऽलम्बम् ॥१॥

---

१ ख बभावे । २. क. सरस्पर० । ३ ख रूपिरास० । ४. ख. विंवतनुप्रतिविंवतूतू । ५ ख ०शोभित । ६ ख. निर्मिमेपे । ७. ख. पे । ८. ख दृशं । ९ ख. अतनुता । १०. [—] कोष्ठगतोंऽशो नाऽस्ति ख पुस्तके ।

'दम्पतीति । दम्पत्योर्जानकीरघुनन्दनयो[१] मिलने[२], प्रमदागणेन कृत जय-जयेति शब्दस्य कदम्ब, बहूनां जगदण्डभाण्डाना सश्रया आधारभूता रुक् प्रकाशो यस्य तस्मिन् गोभुवने गोलोके, आलम्बमाधार. न[३] लभते न प्राप्नोति, गोलोकाद्बहिर्निर्गन[४] इत्यर्थ. । अत्र वह्नित्यादिविशेषणेन[५] गोलोकस्याऽति-महत्त्व व्यज्यते । तेन च ध्वनेरत्याधिक्यमिति ॥१॥

वीणातोयतरङ्गमृदङ्गध्वनिरवगम्यत इह सुविचारे ।
मन्दीकृतानाहतारावो विश्वनाथसम्मदविस्तारे ॥२॥

वीणेति । विश्वनाथस्य शिवस्य कवेर्वा, सम्मदस्याऽऽनन्दस्य विस्तारो यत्र, तत्रेह दम्पतिमिलने[६] मन्दीकृतोऽनाहतारावोऽनाहतध्वनिर्येन स, वीणा-यास्तोयतरङ्गस्य मृदङ्गस्य च ध्वनि., शोभने विचारे सति अवगम्यते ज्ञायते । यथाऽनाहतशब्दे वीणादिशब्दाः एकाग्रमनसा सूक्ष्मविचारमन्तरा[७] न ज्ञायते तथाऽत्राऽपीत्यर्थ । मन्दीकृतेत्यादिना[८] वीतरागानपि अनाहताराव-सुखादपकृष्य स्वस्मिन्नुत्कण्ठतीति व्यज्यते । तेन चाऽस्य ध्वनेर्घनानन्दजनक-त्वम् ॥२॥

[९]पूर्णानन्दपयोधिमग्नहृदयां संस्थाप्य सिंहासने,
मुक्तादाममहार्हचैलनिचयं सम्भ्राम्य दास्यै[१०] ददौ ।
तां सस्नाप्य महोपचारनिकरैर्नीराज्य[११] पुष्पाञ्जलिम्,
दत्वाऽऽस्तूय विनम्य नम्रशिरसा रामो रमामार्च्चयत्[१२] ॥३॥

पूर्णानन्देति । रामः पूर्णानन्दपयोधौ मग्नं हृदय यस्याः सा ता[१३] जानकी, सिंहासने संस्थाप्य, मुक्तादाम्ना महार्हाणा बहुमूल्याना चैलाना च निचयं सम्भ्राम्य, दास्यै इति जातावेकवचन[१४] दासीभ्य[१५] इत्यर्थ, ददौ । ता[१६] सस्नाप्य, नीराज्य[१७], पुष्पाञ्जलिं दत्वा'ऽऽनम्य प्रणम्य'[१८] विनम्रशिरसा[१९] आस्तूय अतिशयेन स्तुत्वा, महतामुपचाराणां निकरैः आर्च्चयत् अर्चितवान् ।

---

१. '—' चिह्नान्तःस्थितांशस्याऽभाव. ख पुस्तके । २. ख. मिलिते । ३. ख. च ।
४. ख. गोलोकादप्यूर्ध्व निर्गत । ५. ख वह्नित्यादि० । ६ ख. ०मिलिने ।
७. ख. रुक्ष्मविचारमंतरा । ८ क मदिकृते० । ९. क. पूर्णानंदपयोधिमय० ।
ख पूर्णानंदयोधिमग्न० । १०. क. दास्य । ११. क. ०र्नोराज्य । १२. ख रामामा० ।
१३ ख. जा । १४ क. ०वचनो । १५ ख दासीत्य । १६ ख. तासा ।
१७.. ख तीराज । १८. '—' चिह्नगोऽशो नैव दृश्यते क पुस्तके । १९. ख नम्रशिरसा ।

अत्र विधेर्व्यतिक्रमेण प्रेमातिशयो व्यज्यते । तेन च प्रेमवता विधिवैगुण्य न दोषमावहतीति ॥१॥

पूजितसीतां वीक्ष्य सुमानिस्वामिना[1],
समवर्षन् कुसुमानि मनोहरपाणिना[2] ।
समगायन् गीतानि गलेन सुनादिना,
विश्वनाथवनिताश्च पिकध्वनिवादिना ॥१॥

अथ किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह—पूजितेत्यादि । विश्वनाथस्य रघुनन्दनस्य वनिता: सख्य, अथवा विश्वनाथ एव वनिता: सखीरूपेण रासप्राप्ता: ब्रह्मादय:, सुमानिस्वामिना श्रीरघुनन्दनेन, पूजिता सीता वीक्ष्य, कुसुमानि समवर्षन्, पिकध्वनिना वदति तच्छीलेन, सुनादिना शोभननादवता गलेन, गीतानि च समगायन् । समगायन्नित्यादिपदेन सख्यो जानकीरघुनन्दनयो. कामोद्दीपनमकुर्वन्निति व्यज्यते । तेन च तासा रासकरणोत्कण्ठातिशय[3] इति । चारुशीला विश्वनाथसभा द्विकोटिवनितामण्डितेति वाक्येन एका[4] जानकी[5] विना यस्य लीलाहानेरभाव[6] व्यञ्जितवती, स एव रघुनन्दन इदानी स्वेष्टदेवतामिव पूजयतीति सख्यो निजस्वामिनीविजयं मन्यन्त इति सुमानिस्वामिनेति पदेन व्यज्यते ॥१॥

अथ सीतां सुप्रीतां समीक्ष्य रामोऽकरोत्तदङ्गेषु ।
पादादिषु सस्कार यावकपादाङ्गदादिविन्यासै[7] ॥५॥

अथ सीतामिति । अथ पूजनानन्तर, राम: सीता सुप्रीता अतिप्रसन्ना समीक्ष्य, पादादिषु तस्या अङ्गेषु, यावको लाक्षारस,[8] पादाङ्गद नूपुर एतदादीनां सकलाभरणाना विन्यासै. सस्कारमकरोत् । सुप्रीतामित्यादिना श्रीरघुनन्दनो मम चरण स्पृशतीति स्मृतिरेव नाऽभवदिति व्यज्यते । तेन चाऽऽनन्दसम्मोह इति ॥१॥

रघुनन्दनो जनकात्मजाचरणारविन्दसुकोशयो: ।
चित्रे विधायाऽलक्तकेन चकार संशयमेतयो: ॥१॥

---

१. क. ०स्वमानिमा । २ क. मतोहर० । ३ क. रासकरणोत्कंठाशिशय । —५. क. एका जानकी । ६. क. ०रभावन । ७. ख. ०विन्यासे । ८. ख लाक्षारसं ।

शृङ्गाररचनामेव गीतेन निरूपयति—रघुनन्दन इति । रघुनन्दनः जनकात्मजाचरणारविन्दसुकोशयोरलक्तकेन चित्रे[1] विधाय, एतयोश्चित्रयोः सहजेत्यादिना वक्ष्यमाण सशय चकारेत्यर्थ.[2] ॥१॥

सहजारुणच्छविसन्ततिः शयशोणता[3] किमु सङ्गता ।
अनुरागविचरणपद्धति. किमु भाति यावकरक्तता ॥२॥

सशयमेवाऽऽह—सहजेति । सहजा स्वाभाविकी चरणस्याऽरुणच्छवेः सन्तति. पक्तिः भाति किमु ? मम शयस्य हस्तस्य शोणता सङ्गता[4] लग्ना[5] भाति किमु ? अनुरागस्य तस्यां मम प्रीतेः विचरणक्रियायाः पद्धतिः मार्गो भाति, अथवा अन्तवर्द्धमानस्य[6] चरणद्वारा निःसरतो[7] जानक्याः अनुरागस्य विचरणपद्धतिर्भाति । किमु यावकस्य रक्तता भाति । रघुनन्दनेत्यादिगीतद्वयेन[8] जानक्या अङ्गानि स्वच्छविभिरेव सालङ्काराणि इति व्यज्यते । तेन च सौभाग्यद्योतनाय तत्करणमिति ॥२॥

अतिनीलमणिमयनूपुरभ्रमरावलिर्विनिवेशिता ।
कुचभारभङ्गुरमध्यभङ्गभियेव रसनाऽऽरोपिता ॥३॥

अतिनीलेति । किञ्च श्रीरघुनन्दनेन तस्याश्चरणकमलयोः अतिनीलमणिमयो नूपुर एव भ्रमरावलिर्विशेषेण निवेशिता, कुचभारेण भङ्गुरस्य नम्रस्य मध्यस्य कटेः भङ्गभियेव, रसना क्षुद्रघण्टिका, आरोपिता । अतिनीलमणिमयेति विशेषणेन भ्रमराणा तारुण्यम् । तेन च मत्तत्वम् । तेन चाऽधिकमधुरध्वनिजनकत्व व्यञ्जितम् ॥३॥

मृगनाभिमकरीपत्रभङ्गविशेषलेखमुरोजयो ।
अकृतार्हणामिव शुचिसुमङ्गलशातकुम्भककुम्भयो ॥४॥

मृगनाभीति । उरोजयोः कुचयोः, मृगनाभेः कस्तूर्या मकरीपत्रभङ्गस्य विशेषलेखं, शुचेः शृङ्गारस्य सुमङ्गलशातकुम्भककुम्भयो[9] मङ्गलकनककलशयो-

१. ख. चित्र । २. क. कारेत्यर्थः ३. क शयशोशोणता। ४—५. क. संगलग्ना ।
६ क. ख. ०वर्द्धमाननि । ७. ख. नि.सुरतो । ८. क. ०त्यादिमितद्वयेन ।
९. क. शातकुंभकयोः ।

रर्हणा[1] पूजामिव अकृत । अत्र सुमङ्गलेत्यादिना शृङ्गारलीलाया. पूर्वच्छेदो[2] मा भूदिति रघुनन्दनाभिप्रायो व्यज्यते । तेन च रासादिलीलायामतिप्रीतिरिति । तेन च तद्वियोगासहिष्णुत्वम् ॥४॥

काश्मीरजकस्तूरीकर्दमसङ्कलनेन[3] कपोलम् ।
चित्रयति स्म विचित्रचमत्कृतिमारमुकुरमिव गोलम् ॥५॥

काश्मीरेति । विशेषेण चित्रा आश्चर्यजनका चमत्कृतिर्यत्र स चाऽसौ मारमुकुरः कामस्याऽऽदर्श. तमिव, गोल कपोल, काश्मीरजकस्तूर्य्योः कुङ्कुम-मृगमदयोः कर्दमस्य सङ्कलनेन सम्यग्रचनेन, चित्रयति स्म चित्रीचकार । अत्र विचित्रचमत्कृतीत्यनेन कपोलः स्वकान्ताकेशप्रतिविम्बकान्त्या[4] च स्वयमेव चित्रित इति व्यज्यते । तेन च चित्ररचनावैयर्थ्यम् । तेन[5] च तत्करण[6] कपोल-स्पर्शनार्थमिति ॥५॥

अलिके न्यधित हीरक तिलक मृगमदमयमतिविमलम् ।
अङ्कवधूक यदपि तदुपमामङ्कि नैतु शशिशकलम् ॥६॥

अलिके न्यधितेति । अलिके ललाटे, अतिविमल हीरक, मृगमदमय तिलक च न्यधित धृतवान् । ललाटमध्ये हीरकविन्दु 'वेदीति' लोके प्रसिद्ध-माधाय तत्परितः कस्तूरीबिन्दूश्चकारेत्यर्थ । अङ्के क्रोडे वधूर्यस्य तत, अङ्कि कलङ्कसहित, ईदृश शशिशकल चन्द्रखण्ड[7] यदपि स्यात् तथाऽपि तस्य ललाटस्य उपमा सादृश्य[8] नैतु न प्राप्नोतु । अत्राऽर्द्धचन्द्रसादृश्याभावात् तस्य सर्वाधिक्य व्यज्यते । तेन च सौन्दर्यातिशय इति ॥६॥

अञ्चति स्म कवरीमिभमुक्तासमुदायेन सकामम् ।
कालिन्दीमिव विशदकलिन्दजकुन्दचयैरभिरामम् ॥७॥

अञ्चति स्मेति । इभमुक्तासमुदायेन गजमुक्तासमूहेन, सकाम अभि-राम च यथा तथा[9], कवरीकेशपाशमञ्चति[10] स्म पूजयामास । कैः कामिव,

---

१. ख. ०कनककलयो० । २ ख. पूर्वार्द्धच्छेदो । ३ क ०सकलेन । ख ०वर्द्दमसकलनेन । ४ क. स्वकान्त्या० । ५. क ते । ६ क त्करण । ७. ख. चन्द्र खड । ८ क. सादृश । ९. ख यथा । १०. ख. कवरीं केश० ।

विशदैरुज्ज्वलैः कलिन्दजैः कलिन्दपर्वतोद्भवैः कुन्दचयैः कालिन्दी यमुनामिव । यथा स्वमनोरथसिद्धये कश्चिद्यमुनामर्च्चयति तथा[1] रासोत्सवसिद्धये अर्च्चति स्मेत्यर्थः । अत्र कालिन्दीमिवेत्यनेन[2] केशेषु श्यामता गम्भीरता च व्यज्यते । तेन च छविच्छटालहरीति ।।७।।

चूडामणि शिरसि सिन्दूरं न्यदधादधिसीमन्तम् ।
किं तनुधरसुखरतिरधियमुन भजति विश्वनाथ तम् ।।८।।

चूडामणिमिति । शिरसि[3] चूडामणि,[4] अधिसीमन्तं सीमन्ते[5] सिन्दूर च न्यदधात्[6] । तत्रोत्प्रेक्षते—किं अधियमुन यमुनाया, तनुधरसुखेन सहिता रति, त विश्वनाथ श्रीरघुनाथ भजति । अत्रैतद्व्यङ्ग्यम्—तपस्विना[7] महादेव.[8] प्रसीदति, एतयोरपि श्रीरघुनाथ. प्रसन्नो भविष्यतीति व्यज्यते । तेन च प्रसादात्प्रथमत[9]:प्रीतेश्च शरीरलाभ इत्यन्तातिशयोक्त्यलङ्कार[10] इति ।।८।।

स भूषयित्वा[11] निखिलाङ्गभूषणै—
विधाय तस्या सुदृशोः शुभाञ्जनम् ।
महार्हवस्त्र परिधाप्य सत्तनौ[12],
ताम्बूलवीटीं प्रददौ प्रियामुखे ।।९।।

इति श्रीमन्महाराजकुमार[13]—श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनदने श्रीजानकीभूषणविधान[14] नामाऽष्टमः सर्गः ।।८।।

स भूषयित्वेति स्पष्टम् । भूषणादिविधाने प्राणप्रियाङ्गस्पर्शजातकम्पेनाऽसामर्थ्यमिति[15] प्र-पदेन व्यज्यते । तेन च वीटिकादाने अतिप्रयास[16] इति ।।९।।

इति सिद्धि[17]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां
व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि[18] टीकायामष्टम सर्ग ।।८।।

---

१. क यथा । २. ख. कालिमिवे० । ३. ख. शिर । ४. ख. चूडामणिः । ५ ख सीमन्त । ६. ख. न्यदधात् । ७ ख. तपस्विना । ८ ख. महादेवा । ९ क ०प्रथम. । १० ख. इत्यत्यनातिशयोक्तलकार । ११. क. भूषयित्या । १२ ख सोभनो । १३ ख श्रीमहाराजकुमार । १४ ०भूषन विधान । १५ ख ०कपेन सामर्थ्यमिति । १६. क अतिप्रायास । १७. ख. सिद्ध । १८ ख. ०नाम ।

[अथ नवमः सर्गः]

कमलनालगुणग्रथितैरथो सुरभिभिः कुसुमैर्मृदुभिर्युतम्[1] ।
मदनमानसनिर्मितसन्निभं सदनमायतमुत्तममाययौ[2] ॥१॥

कमलनालेति । अथो विभूषणविधानानन्तरं सुरभिभिः मृदुभिः कमलनालस्य गुणेन विससूत्रेण[3] ग्रथितैः कुसुमैर्युतं, मदनेन मानसेन[4] निर्मितं यद् गृहं तेन सन्निभं सदृशं, उत्तमं श्रेष्ठमायतं सदनमाययौ । दोलाचलने कुसुमानि पतेयुरिति सदनरचयितुरभिप्रायः कमलनालगुणग्रथितैरिति विशेषणेन व्यज्यते । तेन च शिल्पेऽतिनिपुणतेति ॥१॥

दोलामनेकविधरत्नविचित्ररूपां,[5]
　　तत्राऽऽसनादिरचनारुचिरां विलोक्य ।
आरोप्य मैथिलसुतामिह चाऽऽदरेण,
　　गीतं विधाय रुचिरं प्रजगौ स रामः ॥२॥

दोलामिति । स रामः तत्र कुसुमसदने अनेकविधैः रत्नैर्विचित्रं रूपं यस्यास्ता,[6] आसनादेरुपकरणस्य रचनया रुचिरां नवीनां दोलां विलोक्य, इह दोलायां च मैथिलसुतामारोप्य, रुचिरं गीतं[7] विधाय, नवीनं रचयित्वा प्रजगौ । एतेन प्रथमतो नवं वस्तु निजेष्टदेवतायै[8] समर्प्योपभोक्तव्यमिति[9] व्यज्यते । तेन च तयोः [10]परस्पराभीष्टदातृत्वात्परस्परेष्टदेवतात्वमिति ।

सुप्रीते दोलन्ती सीते कुरु मे गीतं श्रवणानीतम् ।
सरवकिङ्किणी हरति मनो मे मदनादनया किमु समधीतम् ॥१॥

सुप्रीते इति । हे सुप्रीते, हे सीते ! दोलन्ती सती त्वं मम[11] गीतं श्रवणानीतं निजश्रवप्राप्तं[12] कुरु । अत्र श्रवणानीतं कुर्वित्यनेन गीतश्रवणे दोलनसुखादप्यधिकं सुखं प्राप्स्यसीति । तेन च तस्य गानगर्व इति[13] ।

---

१ ख ०र्यतम् । २. क. ०मुक्तमाययौ । ३. क. ख. विशसूत्रेण । ४ ख. सनसेन ।
५ ख. ०नेकविधि० । ६ ख यस्याणां । ७. ख. गीते । ८. क ०देवता ।
९ क ०पयोक्तमिति । १० क परस्परभीष्ट० । ११. ख. म । १२. ख निजश्रवणप्राप्तं ।
१३ ख इति व्यज्यते ।

गीतमेवाऽऽह—सरवेति । रवेण शब्देन सहिताऽसौ[1] किङ्किणी मे मनो हरति, अतोऽनया, किमु इति वितर्के, मदनात्समधीत सम्यक्पठितम् । ईदृको[2] नु मन्त्रः पठितः, यतो मदनस्याऽपि मदनस्य मे मनो हरतीति भावः । अथवा काक्वा मदनात्कि समधीतं, न समधीतमित्यर्थः । एतेन मदनमन्त्रा[3] मम ज्ञाता एव । एषा ममाऽपि मनोहारकमपूर्ववीजमुच्चरतीति व्यज्यते । तेन च किङ्किणी-शब्दस्याऽतिचित्रत्वमिति ॥१॥

यदा दोलने तिर्यग्दोला भवति तदा स्मितरुचिमातनुषे[4] ।
मन्ये विरहपिशाचो गत इति पयसा स्नपयसि मा शुचिमाजनुषे ॥२॥

यदेति । दोलने यदा दोला तिर्यग्भवति तदा स्मितरुचिमातनुषे समन्ताद् विस्तारयसि, तन्मन्ये पिशाचसम्बन्धाच्छरीरमशुचि भवत्यतो मम विरहरूपः पिशाचो गत इति हेतोः शुचिजनुषे[5] पवित्रतोत्पत्यर्थं[6] मा[7] मा पयसा[8] क्षीरेण[9] स्नपयसीति । यद्वा विरहपिशाचेन सम्भोगशृङ्गारो मन्दो बभूव इदानीं स गत इति सम्भोगशृङ्गारवृद्धयर्थं[10] क्षीरेण स्नपयसि[11], स्मितेन सम्भोगशृङ्गार-मुद्दीपयसीत्यर्थः[12] । अत्रेद व्यङ्ग्यम्—आन्दोलने मम प्रवीणता ज्ञात्वा[13] 'अप्रवीणता वा ज्ञात्वा'[14] स्मयसे इति मे मनो विचिकित्ससीति[15] व्यज्यते । तेन च किञ्चिद् वदेति ॥२।

दोलाचलनादतिचलमञ्चलमिह मम करणाचञ्चलकरणम् ।
कलयसि यन्न हि न हीति मन्त्रैरिति किं वशीकरणविस्तरणम् ॥३॥

दोलेति । इह दोलाचलानाद्धेतोः,[16] अतिचल अतिशयेन चलमञ्चल[17], मम करणानामिन्द्रियाणामचञ्चलकरण[18] स्थिरकरण भवतीति[19] शेषः । एतेन त्वया वार वार ध्रियमाणमप्यञ्चलं चार चार ममेन्द्रियाणि[20] स्तम्भयत्सदान्दोलन रहयतीति व्यज्यते । तेन च भवदीयमनोरथसिद्धिरेवेति । पत्युर्नहि[21] नहीति[22] मन्त्रैर्मम वशीकरणस्य[23] विस्तरण कलयसि इति किं किमर्थमित्यर्थः ॥३॥

---

१. ख. ०चाऽसौ । २ ख रुद्रको । ३. क मदनमदनमत्रा । ४ ख स्मितरुमातनुषे ।
५ ख. ०जनषे । ६ क पावित्रतो० । ७ ख ममा । ८ क मपसा । ९. ख चीरेन ।
१० ख. शृंगार वृद्धै । ११. ख न स्नपयसि । १२ ख सभोवाशृंगासुतद्दीपयसीत्यर्थः ।
१३. ख. वो ज्ञात्वा । १४ '—' चिह्नस्थोऽशो नास्ति ख. पुस्तके ।
१५. ख विचिकित्सभीति । १६. क वोलादलनाद्धेतो । ख. दोलाचलद्धेतो ।
१७ क चलपचल । १८ क ०मचत्रल । १९. क भवती । २० क. मनद्रिय णि ।
२१. क. पत्युननंहि । ख. पत्युनर्वंहिं । २२: क नांहीति । २३. वशीकरस्य ।

सञ्चलनादन्तरकण्डूयनमीलन्नयननलिनमिति[1] चित्रम् ।
विश्वनाथनाथस्य हृदम्बुजमुन्मीलयति सजाति सुमित्रम् ॥४॥

सञ्चलनेति । दोलाया सञ्चलनाद्धेतोः, अन्तरकण्डूयनेन[2] मीलत् तव नयनमेव नलिन, विश्वनाथनाथस्य मम, कमलत्वेन सजाति समानजातीय, हृदम्बुजमुन्मीलयति विकाशयतीति चित्रमाश्चर्यम् । अत्राऽन्तरकण्डूयनेत्याद्युक्त्या श्रीरघुनन्दनेन यो भावो जानक्या उद्घाटित स तदेककथनीय इति व्यज्यते । तेन च त्वमान्दोलयसि[3], विशेषानन्दस्तु मां प्राप्नोतीति, असङ्गत्यलङ्कारो व्यज्यते ॥४॥

प्रियेण प्राक् प्रेम्णा[4] समुपगमितान्दोलनविधौ[5],
सुख तस्मै स्वस्य प्रवितरितुकामा जनकजा ।
समादातुं तस्य स्वयमपि तमभ्यर्च्य विधिवत्,
तथैवोद्गायन्ती[6] तमतिरसमान्दोलितवती ॥१॥

प्रियेणेति । प्राक् प्रियेण प्रेम्णा, आन्दोलनविधौ सुखं समुपगमिता सम्यक्प्रापिता[7], जनकजा स्वस्यात्मन.[8] सुख तस्मै प्रियाय प्रवितरितुकामा सती, तस्य प्रियस्य सुख स्वयमपि समादातु विधिवदभ्यर्च्य यथा प्रियोऽगायत् तथैवोच्चैर्गायन्ती सती, अतिरस यथा तथा त प्रियमान्दोलितवती । यद्गान श्रुत्वा पूजितः श्रीरघुनन्दनोऽपि प्रतिमेवाऽऽन्दोलित[9] आसीदिति अतिरसमिति पदेन व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनान्दोलनाज्जानक्यान्दोलनमतिचार्विति ॥१॥

दोलासन्दोलने कपोले विलसति नीला चलदलकाली ।
कमलालयप्रान्त इव लग्ना लहरीविलुलितशैवलपाली ॥१॥

दोलेति । दोलाया सम्यग्दोलने, नीला, चलन्ती चाऽसावलकावली, कपोले कमलालयस्य कमलस्य प्रान्ते लग्ना लहरीविलुलिता चाऽसौ शैवलाना[10] पाली पङ्क्तिरिव विलसति शोभते । अत्र कमलालयेति पदेन कपोलस्य साधारणनीलकमलेभ्योऽधिककान्तिमत्त्व[11] व्यज्यते । अत्रोपमालङ्कारेण[12]

---

१. क. ०कडूयन० । २. ख कडयनेन । ३ त्वमादोलयसि । ४ ख. प्रेम्ण । ५ ख. समुगमिताद्वोलनविधौ । ६. ख. ०वोद्गायति । ७ ख. सम्यक्वापिता । ८ ख स्वस्यात्मान । ९. ख प्रमेवादोलित । १०. ख. शैवाला । ११ क. ०कान्तिमत्त्वं । १२ ख. ०लकारेव ।

शब्दशक्त्युद्भवो वस्तुध्वनिः । लहरीविलुलितशैवालसादृश्येनाऽलकेषु कुसुमस्नेहार्द्रता व्यञ्जिता । तेन च श्रीरघुनाथः परमशृङ्गारी लोके 'छयलचिकमोजा'[1] इति प्रसिद्ध इति ॥१॥

अधररागयुक्ता नसि मुक्ताकनकगुणयुता[2] राजति दोला ।
चित्रा यदारूढवनिताहग्वनिनाततिर्दोलयति[3] लोला ॥२॥

[नसि नासिकायां, लोला चञ्चला, अधरस्य रागेण वर्णेन युक्ता, मुक्ताकनकगुणेन युक्ता, चित्रा][4] दोलेव[5] राजति[6] । यस्यामारूढा वनितानां दृशो दृष्टय एव वनितास्तासां ततिः पङ्क्तिः दोलयति । अन्यस्या दोलायामेका सखी दोलयति, द्वे वा सख्यौ दोलयतः । एतस्या नासामौक्तिकदोलायां सखीसमूहो दोलयतीत्यस्या वैचित्र्यमित्यर्थः । चित्रेति निसर्ग-(शुक्लं मौक्तिकं श्रीरघुनन्दननासास्थित्या हरितं, तत्पुनरधररागेण शोणितं, तत् पुनः सखीदृष्टिभिः श्याममित्यनेक)[7]-वर्णमयी[8]नासामौक्तिकदोलेति भावः । तथैवाऽनेकवर्णमणिजटितदोलाऽप्यस्तीति । अत्र रूपकतद्गुणालङ्काराभ्यां[9] प्रशंसनरूपवक्रोक्त्या[10] विपरीतारोपेण[11] परिहासो व्यज्यते । तेन च लज्जाराहित्यम् । तेन चाऽऽनन्दमदमत्ततेति ॥२॥

मृगमदमण्डितगण्डमण्डले चलति ललितकुण्डलमतिगोलम्[12] ।
यथाऽनङ्गमरकतमणिरङ्गे[13] नृत्यति मञ्जु नर्त्तको लोलम् ॥३॥

मृगमदेति । मृगमदेन मण्डितं यद् गण्डमण्डलं[14], एतेन शृङ्गाररचनास्थलात्परस्परगलनिहितबाहुभ्यां[15] दोलयितुं पादचारेण गच्छद्भ्यामुभाभ्यां क्वचित्परस्परकपोलमेलनं कृतमिति । तेन[16] मकरिकापत्रलग्नमिति । तेन च रसाधिक्यमिति व्यज्यते । तत्राऽतिगोलमतिवर्तुलं कुण्डलं चलति । यथाऽनङ्गमरकतमणिरङ्गे रङ्गभूमौ तत्राऽपि चतुष्करचना भवतीति नर्त्तकः लोलः चपलं

१. ख छयलचिकनिया । २. ख. ०कणकगुण० । ३. ख. ०दृग्धनिता० ।
४. [—] कोष्ठान्तर्गतोऽश. ख. पुस्तके नाऽस्ति । ५ ख. अदोलैव । ६. ख. राजिति ।
७. (—) कण्डिकान्तःस्थांशस्याऽभावः ख. पुस्तके । ८. ख. शुर्णमयी ।
९ ख. रूपतद्गुणा० । १०. ख ०वक्रोक्ष्मा । ११. क विपरीतारोपेण परितारोपेण ।
१२ क. ०कुण्डलि० । १३. क. यथानंगमणिरगे । १४. ख गगमण्डल ।
१५ ख ०गलविहत० । १६. ख. तेन च ।

मञ्जु मनोहर नृत्यति तथा नर्त्तकोऽपि चपल नृत्यन्नलातचक्रवद्वर्तुलाकारो[1] भवतीति भाव:[2] ॥३॥

निलयननिपतत्कुसुमसहतिर्विलसति मुखरमिलिन्दमण्डली ।
विश्वनाथनाथ वशयितुमिव[3] किरतीमामशरीरयामली ॥४॥

निलयनेति[4] । मुखरा[5] मिलिन्दानां[6] मण्डली यस्यां सा, निलयने सदने निपतन्ती[7] चाऽसौ कुसुमाना सहतिर्विलसति । तत्रोत्प्रेक्षते—अशरीर: काम, स एव यामली यामलवेत्ता[8] ऐन्द्रजालिक इति यावत्, विश्वनाथस्य शिवस्य नाथं श्रीरघुनाथ, वशयितुमिव[9], इमा तादृगकुमुसहतिं किरति । मुखरेत्यादिविशेषणेन[10] मदन: 'स्ववैरिणो नाथ जेतु'[11] मन्त्र पठित्वा दिव्यास्त्र-प्रयोगं करोतीति व्यज्यते । तेन शोभाभ्या मिलित्वा दोलयितव्यमिति । तेन च जानक्या: श्रम इति । तेन च सौकुमार्य्यातिशय इति ॥४॥

परस्परप्रेमरसानुसारिणौ परस्परान्दोलनहर्षविह्वलौ ।
परस्परालोकनकौतुकान्वितावुभौ समालोक्य जगाद काचन ॥१॥

परस्परेति स्पष्टम् । परस्परान्दोलनेति । अयं भाव:—एकत: रघुनन्दन-सम्मुखे स्थित्वा जानकी पदाभ्यां चालयति तदा रघुनन्दनदिशि दोला चलति । यदा रघुनन्दनश्चालयति तदा जानकीदिशि चलतीति । परस्परालोकनकौतुका-न्वितावित्यनेन जानकीछविच्छटाभी[12] रघुनन्दनो गौरवर्ण:, तस्य च ताभि-र्जानकी श्यामवर्णा दृश्यते इति व्यज्यते । तेन च तयोराश्चर्यमग्नत्वम्[13] । अत्र वस्तुना तद्गुणालङ्कारो ध्वनि: । तेन च वस्तुध्वनि:[14] ।

लसति श्रीरघुनन्दनदोला सुतरां लोला ।
श्रृङ्गाररुचिमरकतमणिप्राकारसुषमामण्डिता ।
आदर्शसममणिमेदिनीप्रतिबिम्बवृन्दालम्बिता ॥२॥

---

१. क. ०चक्रवद्वलाकारो । २ क ध्यव । ३ क ख वसयितुमिव । ४. क नीलमयेति । ५ क. मुखर । ६ क. मिलिदामा । ७, क नीपतन्ती । ८ क. या०लेवेत्ता । ९. क वसुयितुमिव । १०. ०त्यादिशेषणेन । ११ '—' ख. निजविजयन रघुनंदनं हंतु । १२. ख. ०च्छटाभो । १३ ख ०श्चर्यमानत्वम् । १४. ख. वस्तुध्वनिरिति ।

लसतीति[1] । वक्ष्यमाणविशेषणविशिष्टा लोला चञ्चला श्रीरघुनन्दनयोर्दोला, सुतरां लसति शोभते । दोलाजटितानेकवर्णमणिषु पतितायां जानकीप्रभायां तथैव रघुनन्दनप्रभाया च काचिदन्यवर्णेव दोलायाः प्रभाववतीति सुतरामिति पदेन व्यज्यते । तेन च शोभातिशयत्वमिति । शृङ्गारेति—शृङ्गारस्येव रुचिर्येषां तेषां मरकतमणीनां प्राकारस्य सुषमया[2] परमशोभया मण्डिता, मरकतमणिप्राकारप्रभायततेन कुसुममन्दिरहरितकुञ्ज इव लक्ष्यते । तदन्तरे दोलाऽतिशोभिताऽस्तीति[3] भाव । आदर्शेति—आदर्शेन समा तुल्या सा चाऽसौ मणिमेदिनी च सा तस्या प्रतिबिम्ववृन्दैरालम्बिता युता । दोलायाः प्रतिबिम्बानि मणिमयमेदिन्यां पतन्ति तानि च प्रतिबिम्बानि दोलाजटितमणिषु पतन्तीति भावः । दोलयन्ननेकरूपेण रघुनन्दनो रासमिव करोतीति प्रतिबिम्बवृन्दालम्बितेत्यनेन व्यज्यते । तेन च कौतुकातिशय इति । अत्र वस्तुनोत्प्रेक्षालङ्कारध्वनिः[4] । तेन च वस्तुध्वनिः ॥२॥

वरतारतोरणवलितवरणद्वारवारविरोचिता ।
मणिजटितहाटकमयकपाटोदारदीप्तिसमञ्चिता ॥३॥

वरतारतोरणेति । वरेण ताराणां शुद्धमौक्तिकानां तोरणेन वन्दनमालया[5] वलितानां[6] शोभितानां वरणस्य प्राकारस्य द्वाराणां वारेण समूहेन विरोचिता विशेषेण शोभिता । मणिजटितेति—मणिभिर्जटितानां[7] हाटकमयकपाटानां उदारदीप्त्या समञ्चिता[8] व्याप्ता । अत्रेदं व्यङ्ग्यम्—पतितया ईदृगद्वारप्रभया दोलाऽपि सकपाटद्वारवतीव दृश्यते इति । तेन चेयं रहस्यकर्मयोग्येति सखीपरिहासोक्तिरिति । अत्र वस्तुना उत्प्रेक्षालङ्कारध्वनिः । तेन च वस्तुध्वनिः ॥३॥

मणिमाल्यमुक्ताजालवरप्रवालराजिविराजिता ।
अतिविमलधवलसमृद्धशोभध्वजनिबन्धभ्राजिता ॥४॥

मणिमाल्येति । मणीनां माल्यैर्मुक्तानां जालैश्च वरप्रवालानां[9] राजिभिश्च विशेषेण[10] राजिता । मणिमाल्यादयस्तथा प्रवीणतया सज्जिता

---

१. क. सतीति । २. क. सुखमया । ३ ख. ०शोभीतास्तीति । ४. ख ०लंकारसध्वनिस् ।
५. क. वदनमालया । ६. ख. वनितानां । ७. क. मणिजटि० । ८ ख समांचित्ता ।
९ क. वरवालानां । १०. ख विशेषन ।

यथा सचित्ररचनेव दृश्यत[1] इति विराजितेत्यनेन व्यज्यते । अतिविमलेति—अतिविमलानां धवलाना च समृद्धा शोभा येषा तेषा ध्वजाना निवन्धेन भ्राजिता । अत्र ध्वजनिवन्धेति पदेन[2] निजशोभयाऽन्यशोभां जितवतीति । तेन चाऽद्वितीयत्वमिति[3] व्यज्यते ॥४॥

दम्पतिच्छविसम्पतिवलितविभोत्पत्तिसुखेक्षणा[4] ।
उत्तुङ्गतरलतरङ्गयुतगङ्गादिजलधिविलक्षणा ॥५॥

दम्पतीति । दम्पत्योर्जानकीरघुनन्दनयोर्या छवेः सम्पत्तिः तया वलितायाः[5] युताया विभाया उत्पत्या सुख सुखजनकमीक्षण यस्याः सा, उत्तुङ्गैस्तरलैस्तरङ्गैर्युता[6] गङ्गादयो नानावर्णा नद्यो यस्मिन् तस्माज्जलधेर्विलक्षणा[7] । सुखेक्षणेत्यनेन अभिप्रकाशेन[8] प्रकाशिनो दर्शन सुखेन न भवति, कोटिसूर्यप्रकाशौ जानकीरघुनन्दनौ यत्राऽऽन्दोलयतस्तस्या परमप्रकाशयुतायां दोलाया श्रीजानकीरघुनन्दनयोर्दर्शनविक्षेपाभाव इत्याश्चर्यं व्यज्यते । जलधिविलक्षणेत्यनेन ध्यातॄणा तापहारकत्व व्यज्यते । तेन च रसरूपतेति[9] । अत्र प्रतीपालङ्कारध्वनितवस्तुना वस्तुध्वनिः ॥५॥

बहुरङ्गमणिमयहसकीरकपोतपोतकशोभिता ।
सङ्कुलितकल्पलतादिरचना विबुधवनवद्द्योतिता[10] ॥६॥

वहुरङ्गेति । बहुरङ्गमणिमयैः हसाना कीराणा कपोताना च पोतकैः शावकैः शोभिता । सङ्कुलितेति—सङ्कुलिता कल्पलतादीनां रचना यस्या सा[11], विबुधा देवास्तेषा वनं नन्दन तद्वद् द्योतिता । अत्र वहुरङ्गेत्यादिना तत्र कृत्रिमानामपि वाञ्छापूरकत्व व्यज्यते । तेन च दोलाया नन्दनवनादप्यधिकत्वमिति । अत्र व्यञ्जितवस्तुना प्रतीपालङ्कारध्वनि ॥५॥

कलधौतकीलककलितमणिकुलदीपदीधितिभासिनी[12] ।
सुरचापमध्यनिबद्धजलधरचञ्चलारुचिसादिनी[13] ॥७॥

---

१. ख दस्यत । २. ख. पट्टेन । ३. ख चाद्वितीययात्वमिति । ४ क. सपत्ति । ५ क नाऽस्ति । ६. ख उत्तगै० । ७. ख ०जलिधे० । ८ ख अतिप्रकाशेन । ९. ख आनदरूपतेति । १०. ख. ०वनवद्द्योता । ११. ख. स । १२. ख ०कुलदीधितप्रतिभासिनी । १३. ख. ०रुचसादिनी ।

कलधौतेति । कलधौतकीलकयोः सुवर्णस्तम्भयोः कलितस्य लग्नस्य मणीनां कुलस्य दीधित्या प्रकाशेन प्रतिभासिनी प्रतिभासनशीला, सुरचापस्येन्द्र-धनुषो मध्ये निबद्धयोर्जलधरचञ्चलयोः रुचिं सादयति[1] तिरस्करोति तथा सुरचापोपमया अनेकवर्णा मणय आयाता । अत्र [2]सुरचापोऽनेकवर्णमणिजटितो 'हिन्दोलः', चञ्चला जानकी, विद्युत्साहचर्यात् सजलमेघो रघुनन्दन इति ज्ञेयम् । एतेनाऽऽनन्दरमवर्णन[3] व्यज्यते । तेन च तद्दर्शनानन्दितानां नृत्यन्तीनां गायन्तीनां च सखीनां मयूरोपमेति । अत्र प्रतीपालङ्कारव्यञ्जितवस्तुना उपमालङ्कार-ध्वनि ॥७॥

वैकुण्ठवेश्मविनोदकुण्ठनकिङ्किणीगणगर्जिता ।
कृतपरस्परविलासहासविकासमसुधासुमार्जिता ॥८॥

वैकुण्ठेति । वैकुण्ठवेश्मसु विनोदस्य कुण्ठनं किङ्किणीगणस्य गर्जितं यस्या सा, अथवा वैकुण्ठवेश्मविनोदकुण्ठनस्य किङ्किणीगणे[4] गर्जितं यस्या सा[5], वैकुण्ठवेश्मविनोदकुण्ठनाऽहमिति गर्जतीति यावत् । अत्यपूर्वरागसरिगमसहित-किङ्किणीगणरणितं वैकुण्ठेऽपि पतित्वा निजानन्दजनकतया[7] तत्रत्यं विनोद[8] मन्दीकरोतीति भावः । एतेन सुखजनकशब्दस्याऽनिगयत्व व्यज्यते । तेन चाऽलौकिकत्वमिति[9] । कृतेति—कृतो यः परस्परयोर्विलासे हासस्तस्य विकास एव सुधा तया सुतरां मार्जिता शोधिता, निर्मलीकृतेति यावत् । एतेनोभौ किमपि रहोभावं[10] सूचयत इति व्यज्यते । तेन चाऽऽन्दोलनलीलाया रहस्यस्मारक-त्वमिति ॥८॥

किं नोऽत्र नेत्रानन्दकन्दश्चित्रतनुभृद् दृश्यते ।
वरविश्वनाथसुनाथमपि सुखयत्यसाविति मृश्यते ॥९॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनंदने दोलावर्णनं नाम नवमसर्गः[11] ॥९॥

किं न इति । नः अस्माकं सखीनां नेत्रयोरानन्दस्य कन्दः किमत्र स्थले चित्रतनुभृत् चित्रशरीरधारी दृश्यते ? एतेन दोलाया आनन्दजनकतातिशयो

१ ख सादवति । २ ख. सुरचापयोऽ—जटिते । ३ ख एतेनानंदस्तवर्षण ।
४. ०गणेन । ५ ख वलान । ६ क सो । ७. क निजनन्दतया । ८ ख गीताविनोद ।
९. ख. चालोककत्वमिति । १० ख रहो भाव । ११ ख. नवम सर्ग ।

व्यज्यते । वरेति—असौ दोला वरविश्वनाथसुनाथमपि सुखयतीति[1] विमृश्यते विचार्यते । अत्राऽपिना श्रीरघुनन्दनस्य पूर्णमुखरूपत्वं व्यज्यते । तेन च तदानन्ददायिन्या दोलाया आश्चर्यरूपतेति ॥९॥

इति[2] श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृताया व्यंग्यार्थ-
चन्द्रिकानाम्नि[3]टीकाया[4] नवम.[5] सर्गः ॥९॥

[अथ दशमः सर्गः]

दोलान्दोलनलीलया प्रियतमामित्थं समुल्लासय—
न्यासामपि मानसे मृगदृशामानन्दमापूरयन् ।
क्रीडित्वा[6] सुचिरं विहारमपरं कर्त्तुं समुत्कण्ठयन्,
रामाश्चारुतरं चकार वचसामुच्चारणं राघवम् ॥१॥

दोलान्दोलनेति स्पष्टम् । अत्र चारुतरमित्यनेन यस्मिन्वने विहारः सखीनां वाञ्छितस्तदेव वनं कथितवानिति व्यङ्ग्यम् । तेन[7] च याचनं विनैव 'श्रीरघुनन्दनस्य स्वभक्तानामभिलापपूरकत्वम्'[8] । अत्र वस्तुव्यञ्जितप्रहर्षणा-लङ्कारेण वस्तुध्वनि. ॥१॥

चल दयिते[1] वरसरयूतटमनुभाति[9] ।
पिकरमणी[10] शिखिरमणी यत्र च याति ॥१॥

---

१ ख. सुखयास्मिति । २. ख इति सिद्ध । ३. क ०चन्द्रिकायाम्नि । ४. क. टीकाया ।
५. क. नवम । ६. ख क्रीडीत्वा । ७. ख तिन । ८ '—' चिह्नान्तर्गांशस्याने
ख पुस्तकेऽयमंश —'स्वक्ताना श्रीरघुनन्दनस्याभिलाषपूरकत्वम् । ९ ख. वरसरजू० ।
१०. क पिकरक ।

रघुनन्दनवचनमेवाऽऽह—चलेति । हे दयिते जानकि ! वर श्रेष्ठ सरयूतटमनुभाति शोभते, तत्र चल । पिकी वसन्त ज्ञात्वा, मयूरी तु प्रावृष ज्ञात्वा यत्र याति । एतेनोपलक्षणेन यत्र षडपि ऋतवो[1] वसन्तीति व्यज्यते । तेन च एकस्मिन्नेव काले षड्ऋतुविहारयोग्यतेति । अत्र देशवैशिष्ट्यजन्यवस्तु-व्यङ्ग्येन वस्तुध्वनिः ॥१॥

नितान्तमीक्षणेक्षणे क्षणे क्षणे विलक्षणा ।
अतुच्छगुच्छकक्षवृक्षलक्षलक्ष्यलक्षणा ॥२॥

नितान्तमिति । ईक्षणयोर्नेत्रयो[2] ईक्षणे दर्शने, क्षणे क्षणेऽनुक्षण नितान्त विलक्षणा[3] । अत्राऽनुक्षणवैलक्षण्येन तत्रत्यो[4] विहारोऽपि[5] च विलक्षण इति । तत्रत्याऽऽनन्दस्याऽपि विलक्षणता व्यज्यते । तेन च अतुच्छा[6] महान्तो गुच्छा कुसुमस्तबका[7] येषा ते ते च कक्षवृक्षाश्च[8] तेषा लक्षमेव लक्ष्य दर्शन-योग्य लक्षण चिन्ह यस्या. सा । यत्र सर्वे वृक्षा न्यूनाधिक्यरहिताः शोभासहिता दर्शनीया. सन्तीत्यर्थ· । एतेन तस्या. सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते ॥२॥

प्रियालतालमालतीतमालपालिपालिनी[9] ।
सदालबालवल्लताविशालशालशालिनी[10] ॥३॥

प्रियालेति । प्रियालादीना पालिः पङ्क्तिरेव पालिनी 'वारी' ति लोके प्रसिद्धा यस्या. सा, एतेन यस्या. पालिनी कण्टकितवृक्षरहिता, तन्मध्ये कण्टकितवृक्षाः[11] कथ भवेयुरिति व्यङ्ग्यम् । तेन च पादचारे शङ्का न कार्येति । सन्त· समीचीना आलवाला विद्यन्ते येषां ते सदालवालवन्तः ते लताश्च, विशाला विस्तीर्णा वृक्षाश्च ते तैः शालिनी शोभिता । सदालवालेति-विशेषणेनाऽतिसरसहरितता व्यञ्जिता । तेन च तद्दर्शनस्य नेत्रतापहारक-त्वमिति[12] । ईदृशलतावृक्षेति पुरुषकथनेन तस्या अभ्युद्दीपनता[13] व्यञ्जिता ॥३॥

परागपुञ्जपूरिता पलाशपुष्पपिङ्गला ।
सनीरधीरगन्धवत्समीरसेवितोज्ज्वला ॥४॥

१. क. ऋातवो । २ ख. ईक्षणईक्षणयोर्नेत्रयो. । ३. ख नितान्त विलक्षणा ।
४ ख तत्र यो । ५. ख. विहारेऽपि । ६. ख अतुच्छ । ७ ख स्तकका । ८ ख. कक्षे० ।
९. ख ०पालपालिनी । १०. ख ०शालसालिनी । ११ ख कण्टकिता वृक्षाः ।
१२. ख. नेत्रानंदजनकत्वमिति । १३. ख. अत्युद्दीपनता ।

परागेति । परागपुञ्जेन पूरिता, पलाशपुष्पै पिङ्गला इति विशेषणद्वयेन तस्या अतिकोमलता व्यज्यते । तेन च रामयोग्यतेति[1] । सनीरेति—सनीरेण धीरेण च गन्धवता च समीरेण सेविता उज्ज्वला निर्मला त्रिविधगुणसमीर-सेवितेति यावत् । एतेन तस्या विहारजन्यश्रमहारकत्व व्यज्यते ॥४॥

मरन्दबिन्दुचित्रिता मिलिन्दवृन्दनादिता ।
वरस्थली[2] विभाति यत्र विश्वनाथवन्दिता ॥५॥

मरन्देति । मरन्दस्य कुसुमरसस्य बिन्दुभिश्चित्रिता पतता मकरन्दबिन्दूना महत्त्वाल्पत्वपरिमाणवैचित्र्येण तस्याश्चित्रितत्वमिति बोध्यम् । एतेन यत्र रासोत्सवसूचकनानावर्णचतुष्कानीव रचितानि सन्तीति व्यज्यते । अत्र वस्तुना उत्प्रेक्षालङ्कारध्वनि । मिलिन्दवृन्देत्यादिविशेषणेन यत्राऽऽलयो रासोत्सव-मङ्गलगानमिव कुर्वन्तीति व्यज्यते । तेन च पूर्वरासस्थलीभ्यस्तस्या अति-रमणीयतेति । विश्वेषा सर्वेषा नाथा ये ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्तैर्वन्दिता । एतेन तस्या सर्वोत्कृष्टता व्यञ्जिता । ईदृशी वनस्थली यत्र सरयूतटे विभाति । अत्र वाच्यवैशिष्ट्यजन्यव्यङ्ग्यम ॥५॥

गलमञ्जुलवञ्जुलमाल्यचयौ,[3]
मधुपावलिलालितकञ्जशयौ ।
अतिपीतपरागलसद्वसनौ,
विलसद्वदनौ दरसद्धसनौ ॥१॥

गलेति । गले मञ्जुलाना वञ्जुलमाल्याना चय समूहो ययोस्तौ यैव सुप्रीतिमाला विरच्याऽऽयाति[4] तस्या एव माला धत्त[5] इति माल्यचये व्यङ्ग्यम[6] । तेन च सर्वासु समानप्रीतिमत्वम् । मधुपावल्या लालित कञ्ज कमल शये हस्ते ययोस्तौ । अत्र भ्रमराणा लालनासम्भवाद्भावे[7] गुञ्जारो लक्ष्यते । तेन च तेषा मधुपानाभिलाषित्व[8] व्यज्यते । अतिपीतेन परागेण लसती[9] वसने ययोस्तौ । एतेन विकचे कुञ्जे गमन व्यज्यते । तेन च वनिका मार्गशोभातिशयः[10] । दर मन्द सत्सुन्दर हसन ययोस्तौ, अत एव विलसत्

---

१ ख राक्षयोग्यतेति । २ ख वनस्थली । ३. ख ०मञ्जुलवञ्जुल० । ४ ख विश्वयियति । ५. ख. धत्त । ६ क व्य । ७. क लालनां सभवाद्भावें । ८. ख. मधुप. नाभिलात्व । ९. ख. लसती । १०. क. मार्गशोभीतिशय ।

शोभमानं[1] वदनं ययोस्तौ । दरसद्धसनावित्यनेन परस्परं किमप्यपूर्वं रहस्य सूचयत इति व्यज्यते ॥१॥

व्यजनादिकवीजितकान्ततनू[2] वचनामृतनिन्दितकाममनू ।
ललनावलिमण्डितमोदभरौ ययतुश्च परस्परपाणिधरौ ॥२॥

व्यजनादिकेन आदिना चामरग्रह[3], वीजिते कान्ते मनोहरे तनू ययोस्तौ । अतिसुकुमारसुन्दरशरीरतया गमने श्रम ज्ञात्वा सख्य परितो व्यजनचामराणि चालयन्तीति भाव. । वचनामतेन निन्दिता कामस्य मनवो मन्त्रा याभ्या तौ । यौ[4] काममन्त्रैर्न वशीभूतौ तौ परस्परवचनेन वशीभूताविद व्यङ्ग्यम् । तेन च वचनेऽपूर्वतेति । ललनागणेन मण्डितौ मोदस्य भरः समूहो ययोस्तौ तौ च तौ । मोदभरधारकत्वेन तयोर्मन्थरगामित्व[5] व्यङ्ग्यम् । ईदृशौ श्रीजानकीरघुनन्दनौ परस्परपाणिधरौ ययतु.[6] । एतेन चलनेऽप्यतिप्रीत्याऽन्तरासहिष्णुत्व व्यङ्ग्यम् ॥२॥

युग्मम् विश्वनाथनुतचरणौ गत्वा तत्र ।
शुशुभाते तौ रसिकौ[7] रङ्गो यत्र ॥१॥

विश्वनाथेति । विश्वनाथेन शिवेन कविना वा नुतौ चरणौ ययोस्तौ । अत्र रसिकपदेन नानाशृङ्गारकेलिकलानिपुणत्व व्यज्यते । तेन चाऽपूर्वरासकरणोत्साह इति ।

[8]समुद्यताभिर्द्युतिभिर्नवाभिर्विरोचमान रमण विलोक्य ।
स एव वाऽन्योऽयमिति[9] भ्रमन्ती कयाऽपि काचिज्जगदे वयस्या ॥१॥

समुद्यताभिरिति[10] । भ्रमन्ती भ्रम कुर्वन्ती अनुक्षण नवतां दधतो रघुनन्दनस्य[11] रूप दृष्टवत्यपीदानी रूपदर्शनानन्दमदमत्ता जातेति भ्रान्तिमदलङ्कारेण वस्तुव्यङ्ग्यम् । तेन च रघुनाथरूप तत्कालेऽत्यपूर्वमिति ॥१॥

---

१. ख शोभामानं । २. ख व्यंजनादिक० । ३ क. चामरत्रहः । ४. क तौ । ५ ख तयोर्मन्दगामित्वं । ६. क ययुतु । ७. ख. रसिररसिकौ । ८. क. समुद्युताभि० । ९ ख स ऐवान्योऽयमिति । १०. ख. समुद्यतान्निरतिः । ११. ख रघुनन्दस्य ।

पश्य[1] सखि[2] ! जानकीकान्तम् ।
सकलशुचिसारसुनिशान्तम्[3] ॥१॥

पश्येति[4] । सकलस्य शुचेः शृङ्गारस्य यः सारः दिव्यशृङ्गारः तस्य सुनिशान्तं शोभनभवनं, एतेन शृङ्गारः कदाचिदपि तं[5] न[6] मुञ्चतीति व्यज्यते । तेन च अन्यत्र शृङ्गाराभास एवेति । जानकीकान्तमिति पदेन तस्याः[7] भ्रमं निवारितवतीति व्यज्यते । तेन च तस्या रघुनाथरूपाभिज्ञतेति ॥१॥

ललितकरकलितकमलवरम् ।
विलज्जितकुसुमबाणधरम् ॥२॥

ललितेति । ललिते करे कलितं शोभितं कमलवरं यस्य तं, अत[8] एव विलज्जितो विशेषेण लज्जां प्रापितः[9] कुसुमबाणधरः[10] कन्दर्पो येन तं । एतेन मदनः पञ्चबाणव्यापारेण[11] जगद् वशयति, रघुनन्दनस्त्वबाणीकृतेनैकेन[12] कमलेनैव तत्राऽपि दर्शनादेव वशयतीति व्यज्यते । तेन च न केवलं कान्त्या मदनजेता[13] श्रीरघुनन्दनः किन्तु सामर्थ्येनाऽपीति । अत्र प्रतीपालङ्कारेण वस्तुध्वनिरिति ॥२॥

लसन्नटराजवरवेषम् ।
प्रियामुखपश्यमनिमेषम्[14] ॥३॥

लसन्नटराजेति । लसञ्छोभमानं नटराजाद्वरो[15] वेषो यस्य तम् । नटराजस्य कला अवलोक्य निपुणता ज्ञायतेऽस्य तु रूपमेव दृष्ट्वा नृत्यगीतादिषु प्रावीण्यं[16] ज्ञायत इति वरपदव्यङ्ग्यम् । तेन च तादृशवेषादेव[17] सर्वजन-मोहकत्वमिति । प्रियेति प्रियामुखस्य पश्यं पश्यन्तमित्यर्थं । अनिमेषं[18] निमेषरहितमित्यर्थं । श्रीजानकीछविरनुक्षणं नवीना भवत्यतो निमेषयोश्चलितुमवकाश[19] एव न भवतीति अनिमेषपदव्यङ्ग्यम् ॥३॥

---

१ क. ख. पस्य । २. ख सखी । ३ ख० सुनिसान्त । ४. ख पस्येति । ५ ख नाऽस्ति । ६. क. म. । ७. क. स्या । ८ ख अति । ९ ख प्रापिता । १० ख ० बाणधराः । ११ क ० मापारेण । १२ क ० स्त्वबाणीकृते० । १३. क. मदन जेता । १४ ख पस्य-निमेषम् । १५ क. नटराजसेवलरो । १६ ख. प्रावीण । १७. ख. त्वादृश० । १८ ख. मनिमिष । १९ ख.० अनितुमव ।

षण्णत्यङ्गुलोन्मानम्, ।
केवलानन्दमयभानम् ॥४॥

षण्णवतिरङ्गुलानि उन्मान यस्य त, केवलानन्दमय इति भान[1] यस्य त केवलानन्दशरीरकमित्यर्थ. । एतेन रूपस्याऽनिर्वचनीयता व्यञ्जिता । तेन चाऽप्रतिद्वन्द्वत्वमिति[2] ॥४॥

विविधमणिमयमुकुटलसितम्[3] ।
तारमञ्जरीयुगकलितम् ॥५॥

विविधेति । विविधानेकरङ्गमणिमयेन[4] मुकुटेन लसित शोभितं, शिखिपिच्छचन्द्रकमयेनेव[5] मुकुटेन युनमिति भाव. । तारेति—तारमञ्जर्या लोके 'किलगी' ति[6] प्रसिद्धाया युगेन कलित युक्त, यस्य मुकुटे उभयतो मौक्तिकमञ्जरीद्वय लोलतीति भावः । एतेन छयिल्लता[7] व्यञ्जिता । तेन च रमणीप्रसादकत्वमिति ॥५॥

अरुणकञ्चुककलितकायम् ।
विजितबालातपच्छायम् ॥६॥

अरुणेति । अरुणेन कञ्चुकेन 'जामेति' लोके प्रसिद्धेन कलितः[8] कायो यस्य त, अत एव विजिता बालातपस्य[9] छाया शोभा येन तम् । एतेन अकृत्रिमजयेन कृत्रिमजयस्सुतरा[10] सिद्ध इति व्यज्यते । तेन च बृहत्कञ्चुकस्याऽपूर्वारुण्यमिति ॥६॥

भूयिष्ठवसनसुखिताशम्[11] ।
अमितसुरचापजयदक्षम्[12] ॥७॥

भूयिष्ठेति । भूयिष्ठवसनेन आगुल्फविलम्बिकञ्चुकोपरिनिबद्धानेकवर्णानेकवसनरचितेन कटिबन्धनेन 'काछनी' ति लोके प्रसिद्धेन सुखिते अक्षिणी अवलोकयतामिति[13] शेषः येन त, अत एवाऽमितस्य सुरचापस्य जये दक्ष[14] चतुरम् । सुरचापस्तु भूत्वा नश्यति, भूयिष्ठवसन सदैकरसमानन्दवर्द्धकमिति जये हेतुः ।

---

१. क. भाव । २. ख. च प्रतिद्वत्वमिति । ३. ख. ०लशितं । ४. क. ०नेकिरग० ।
५. क चन्द्रमयेनेव । ६. ख. कलगीता । ७. क. ख. छपिल्लता । ८. ख कलिता ।
९. क. वालातस्य । १०. क. कृत्रिजय० । ११. ख. ०सुखिताच्छम् । १२. ख. अमितसुवाप० ।
१३ ख. अवशोकय० । १४. ख ददम ।

एतेनाऽरुणकञ्चुकस्य सन्ध्याकालिकमेघस्याऽभ्युपमेति व्यज्यते। तेन च रघुनन्दन-शरीरवर्णस्याऽऽकाशोपमेति ॥७॥

पटयुग प्रान्तमणिमुक्तम्।
दधतमतिचारुतायुक्तम् ॥८॥

पटयुगमिति। प्रान्ते मणयो मुक्ताश्च यस्य तत्, अतिचारुतायुक्त, पटयोर्युग दधतम्। पटयुगधारणेऽस्य हेतु —एक भूयिष्ठवसनोपरिबन्धनाय, द्वितीयं[1] भावससूचनाय स्कन्धे[2] धरतीति। प्रान्तमणिमुक्तमिति पदेन पटयुगस्य प्रकाशवत्त्व व्यज्यते। तेन च तस्य विद्युत्सादृश्यमिति[3] ॥८॥

अथ कञ्चुककलितजङ्घम्।
विजितशुचियूपरुचिसङ्घम्[4] ॥९॥

अथ इति। अथ कञ्चुकेन लोके 'पायजामे' ति प्रसिद्धेन कलिते आवेष्टिते जङ्घे यस्य तम्, अत एव विजित शुचियूपस्य शृङ्गारजयस्तम्भस्य रुचेः सङ्घ समूहो येन तम्। अत्र शुचियूपजयेन जङ्घयो पादकञ्चुकपटपूजितत्वम्। तेन चाऽतिश्लाघनीयतेति व्यज्यते ॥९॥

मञ्जुल यस्य मुखकमलम्।
हसति विधुमुदितसकलकलम् ॥१०॥

मञ्जुलमिति। यस्य मञ्जुल मुखकमल, उदिता सकला. कला यस्य त, विधुं चन्द्र हसति। एतेनाऽन्यत्कमल चन्द्रमवलोक्य निमीलितमुखकमल तु पूर्णकल[5] चन्द्र दृष्ट्वा विनिन्द्य हसतीत्यतोऽपूर्वमेतत् कमलमिति व्यज्यते। तेन च सदा विकाशित्वमिति। अत्र प्रतीपालङ्कारेण प्रतीपालङ्कारध्वनि ॥१०॥

जयति सतिलकमलिकममलम्।
सवशकरयन्त्रविधुशकलम् ॥११॥

---

१ क द्वितीय। २. क. स्कदे। ३ क ०सादृशमिति। ४. व
५ ख. पूर्णकमल।

जयतीति । सतिलक अमल यस्य अलिक ललाट, वशकरयन्त्रेण[1] सहित विधुशकल चन्द्रखण्ड[2] जयति, अतोऽभूतोपमेयम् । एतेन केवलस्याऽलिकस्य चन्द्रादप्यधिकानन्दजनकता व्यज्यते । तेन च तद्दर्शनादेव वनिताना मानापनयनमिति[3] ॥११॥

काकपक्षे स्वलकपाली ।
भाति जितफणिफणतलव्याली[4] ॥१२॥

काकपक्ष इति[5] । जिता[6] फणिफणस्य तले वर्त्तमाना व्याली सर्पिणी यया सा, स्वलकपाली शोभनाऽलकपङ्क्ति[7] यस्य काकपक्षे जयति । फणिफणाधस्ताद्[8] वर्त्तमानत्वेन व्याल्याः सङ्कुञ्चित[9] व्यङ्ग्यम् । तेन च स्थिरत्व कुटिलत्व चेति व्याल्या[10] दशनेन विषमारोहति, एतस्या दर्शनेनैव विषमारोहतीति पदेन व्यज्यते ॥१२॥

भ्रमति भुग्ना[11] भृकुटिरेषा[12] ।
मनोभवचापजयिवेषा ॥१३॥

भ्रमतीति । मनोभवचापस्य[13] जयो वेषो यस्याः सा, भुग्ना कुटिला, यस्य एषा भृकुटिः भ्रमति । जयिवेषेति[14] पदेन धनुः कदाचिदवरोप्यते[15] कदाचिदवतार्य्यते । नित्यकिशोरस्य रघुनन्दनस्य भ्रूस्तु सदाऽवरोपितैव[16] भवतीति व्यज्यते । अनुक्षण नवनवशोभावत्याः जानक्याः मुखदशने विनिमेषस्य रघुनन्दनस्येदमप्याश्चर्यमिदमप्याश्चर्यमिति[17] भुग्नभृकुटिभ्रमणेन व्यज्यते । तेन च जानक्या सौन्दर्यातिशय इति ॥१३॥

राजति[18] श्रवणमतिरूपम् ।
हसितमरकतवलितकूपम् ॥१४॥

---

१. क वशकर यन्त्रेण । २. क. चन्द्र खडं । ३ क. मानापवयनमिति ।
४ क. जितफणितलव्याली । ५. ख. काकपक्ष इति विजिता काकपक्ष इति ।
६ ख विजिता । ७ क शोभनालपंक्ति । ८. क फणिवणा० । ९ क. सकुचितत ।
१० ख. वाल्या । ११. क. मुग्ना । १२ क. भ्रुकुटि० । ख. भ्रकुटि० ।
१३. क मनोभाव० । १४. क. जपिववेति । १५. ख. कदाचिदरोप्यते ।
१६. ख सदारोपितैव । १७ क. पुस्तके 'इदमप्याश्चर्य'इत्यस्य त्रिरावृत्ति ।
१८. ख. राजते ।

राजतीति । हसित. मरकतेन वलितो बद्धः कूपो येन[1] तत्, यस्याऽतिरूप श्रवण राजति । अत्र राजतीत्यनेनेद व्यङ्ग्यम्—कूपो जलेन पूर्य्यते, इदन्तु, सखीना वचनसुधासारै कदापि न[2] पूर्य्यत इति । तेन च तासा वचनश्रवणेऽत्यासक्तिरिति ॥१४॥

श्रवणपर्य्यन्तशुभनयनम् ।
असमशरकञ्जशरजयनम् ॥१५॥

श्रवणेति । यस्य असमशरस्य[3] कामस्य य. कञ्जरूप शरस्तस्य जयन जयकर्त्तृ, श्रवणपर्यन्त शुभ नयन राजतीति शेष । कामवाणा[4] विपयिणा काममुद्दीपयन्ति, श्रीरघुनन्दननयन तु कामजयिना[5] मुनीनामपि काममुद्दीपयतीति व्यङ्ग्यम् । तेन च ब्रह्मानन्दात् सखीभावेनोपासनायामानन्दाधिक्यमिति ॥१५॥

ललितकुण्डलगण्डयुगलम् ।
जितमकरचित्रमुकुरतलम् ॥१६॥

ललितेति । जित मकरस्य चित्र यस्मिस्तन्मुकुरतल येन तत्, ललिते कुण्डले यस्मिस्तत् गण्डयुग यस्य शोभते इति शेष । अत्र मुकुरचित्रयुक्तादर्शस्य जितत्वोक्त्या[6] गण्डयो. कुण्डलप्रतिविम्वयुक्तत्व व्यज्यते । तेन चाऽतिनिर्मलत्वमिति[7] ॥१६॥

नासिका नागमणिसहिता ।
सफलशुकतुण्डजयविहिता ॥१७॥

नासिकेति । सफलस्य फलसहितस्य शुकतुण्डस्य जयो विहितो[8] यया सा, नागमणिगजमुक्ता तेन सहिता, नासिका यस्य राजतीति शेपः । सफलेत्यनेन शुकस्य हर्पितत्व[9] व्यज्यते । तेन च तत्तुण्डजयिन्या. नासायाः शोभातिशयो व्यज्यते ॥१७॥

मृदुलमधुरे दशनवदने[10] ।
मदनवनविम्वरुचिहरणे ॥१८॥

---

१ ख एन । २. ख. ना । ३ क. असमथशरस्य । ४. ख. कामवाण । ५. क. कामजायिना । स. कामजयिनां । ६ ख जितत्वोक्ता । ७. ख ०मिति व्यज्यते । ८. क. विहीतो । ९. ख हर्षिताध । १० ख दशनवशने ।

मृदुलेति । मदनवनविम्बस्य रुचेर्हरणे[1], मृदुले च ते मधुरे च ते, यस्य दशनवदने[2] शोभेते इति शेषः । अत्र मधुरपदेन तत्सखीकृताधरामृतपान व्यज्यते । तेन च त्वमप्यधरपान कुर्विति[3] ॥१८॥

लसति सहजस्मितमरीचि· ।
विनिन्दितसुधानिधिवीचिः ॥१९॥

लसतीति । विनिन्दिता सुधानिधेरमृतसमुद्रस्य वीचयो यया सा, यस्य सहजा चाऽसौ स्मितमरीचिश्च लसति । अत्र सहजपदेन रघुनन्दनस्य नित्य-शृङ्गारानन्दरूपता व्यज्यत तेन च सर्वदा शृङ्गारसामग्रीसाहित्यमिति । तेन च रासादिलीलाया नित्यत्वमिति । वीचीः पवन उत्थापयति, स्मित तु सहजमेवेति विनिन्दितपदे हेतुः ॥१९॥

रोचते चारु चिबुकतलम्,
विनिन्दितलघुरसालफलम् ॥२०॥

रोचत इति । विनिन्दित रसालस्याऽम्रस्य लघुफल येन तत्, यस्य चारु सुन्दरं चिवुकतल रोचते । अत्र रसालपदेन चिबुकस्य शृङ्गाररसपूर्णता व्यज्यते । तेन च तच्चुम्बने सखीना लालसाधिक्यमिति ॥२०॥

कलितमुक्तालिकण्ठवर. ।
विजितमणिवलितललितदरः ॥२१॥

कलितेति । कलिता मुक्तावलिर्मौक्तिकमाल्य यस्मिन् स चाऽसौ कण्ठवरः, अत एव विजित. मणिभिर्वलितो ललितो दर· शङ्खो येन स शोभते इति शेषः । अत्र मणिवलितेत्यनेन शङ्खस्य[4] पूजा[5] व्यज्यते । तेन च गम्भीर-ध्वनिरिति । विजितेत्यनेन कण्ठो निजरोचिषा मुक्ता अपि मरकतयतीति व्यज्यते ॥२१॥

रत्नभूषणकलितदोषौ ।
समणिफणिराजरुचिमोषौ ॥२२॥

१ क. रुचेरणे । २ क. ०वसने । ख ०वशने । ३. ख कुर्वीति । ४ क. शखृ ।
५, क. पूजिता ।

रत्नेति । यस्य रत्नानां भूषणेन ललितौ च तौ दोषौ भुजौ च तौ, मणिभि सहितस्य फणिराजस्य रुचेर्मोषौ चौरौ राजेत इति शेषः । साङ्गद-भुजमूले समणिफणिन. शोभा दृश्यत[1] एवेति[2] भाव. । अत्र चौरत्वोक्त्या[3]याभ्या फणिनो भयमगणयित्वा तच्छोभासर्वस्व हृत तयोरवलामनोहरण[4] किमाश्चर्य-मिति व्यज्यते । तेन च वनिताना सर्वदैव तदालिङ्गनेच्छोज्जृम्भत इति ॥२२॥

करौ काञ्चनरुचिरवलयौ ।
जितसरविकररमानिलयौ ॥२३।

कराविति । काञ्चनस्य रुचिरौ वलयौ ययोस्तौ, अत एव जित रवि-करेण सहित रमानिलय[5] कमल याभ्या तौ, यस्य करौ शोभेते । सरविकरपदेन विकसित कमल व्यञ्जितम् । जितपदेन कमलादधिकतापहारकत्व व्यज्यते । तेन च कमलहृतस्ताप. पुनरपि भवति, एतत्करहृततापस्तु समूल नश्यतीति ॥२३॥

सुवक्ष कौस्तुभावासम्[6] ।
हसति शशिसहितमाकाशम् ॥२४॥

सुवक्ष इति । कौस्तुभस्य आवासो यस्मिस्तत्, यस्य सुवक्ष शशि-सहितमाकाश हसति । आकाशस्य कलङ्किचन्द्रसहितत्व हसने हेतु । अत्राऽऽवास-पदेनाऽऽलम्बनस्य हृदयस्य सदोद्दीपनविभावसाहित्य[7] व्यज्यते । तेन च मिलितावुभौ शृङ्गारमतिशयेनोद्भावयत[8] इति । कौस्तुभस्य चन्द्रोपमया माल्यस्थितमणिमुक्ताप्रभामन्दकर्तृत्वम् व्यज्यते ॥२४॥

सलोमावलिललितमुदरम् ।
सुनाभित्रिवलिदीप्ततरम् ॥२५॥

सशैवालावर्त्तवीचिम् ।
हसति सिन्धु मणिमरीचिम् ॥२६॥

सलोमेति । लोमावल्या सहित यत्तत्,[9] ललित सुन्दर, शोभने नाभित्रिवल्यौ यस्मिन् तत्, दीप्ततर प्रकाशबहुल[10], यस्य रघुनन्दनस्योदर,[11]

---

१ क दृश्य । २ क. इति । ३. ख. चौरत्वोक्ता । ४. ख. ०रबलामहरन ।
५ ख. मानिलय । ६. ख. कौस्तुभवासम् । ७. ख. सद्योद्दीपन० । ८. क. मतिमयोद्भावयत ।
९. क. स..त् । १० ख. ०बाहुल्य । ११. क. ०नन्दनस्योरं ।

शैवालश्च आवर्त्तस्सलिलभ्रमिश्च[1] वीचयश्च ताभिस्त्रिभिः[2] सह[3] विद्यते स त, मणीना[4] मरीचयो यस्मिन् स त, सिन्धु समुद्र हसति[5] तिरस्करोतीत्यर्थः, ततोऽधिकतर शोभते इति यावत् । दीप्ततरमित्यनेन[6] बृहत्कञ्चुकभूयिष्ठवसनाच्छन्नस्याऽभ्युदरस्य[7] छटा उपरि स्फुरतीति व्यज्यते । तेन च कञ्चुकभूयिष्ठवसनयोरातसूक्ष्मत्वमिति[8] । एतेन सकलेन उदरस्य गम्भीरतातिशयो व्यज्यते । तेन च तदभिप्राय न कोऽपि जानातीति ॥२५॥२६॥

मध्यमणु[9] जेतुमनपघनम्[10] ।
बद्धपरिकरमिव सरशनम् ॥२७॥

मध्यमिति[11] । यस्य अणु[12] सूक्ष्म, रशनया सहित, मध्य कटिः, न अपघनो[13] ऽङ्ग यस्य स, अनङ्ग इत्यर्थः । "अङ्ग प्रतीकोऽवयवोऽपघन[14]" इत्यमर. । त जेतु बद्धपरिकरमिव[15] भातीति[16] शेष । एतेन कटौ सूक्ष्मतावधिर्व्यज्यते[17] । तेन च पश्यन्तीना[18] कटिमद्भावासद्भावसशय इति । अत्र वस्तुना सन्देहालङ्कारध्वनि. । अत्र कविसम्प्रदायानुरोधेन कटिसूक्ष्मतातिशयवर्णनमात्रमेव बोध्यम् ॥२७॥

मञ्जुमञ्जीरपदमचलम् ।
हसितसुरतरुसुकुसुमदलम् ॥२८॥

मञ्जुमञ्जीरेति । यस्य[19] हसितानि सुरतरोः कल्पवृक्षस्य कुसुमैः सहितानि दलानि येन तत्, अचल स्थिर, मञ्जुमञ्जीरो[20] यस्मिन् तच्च तत्पदं च तत्, राजतीति शेष. । नटराजवेष विधायाऽपूर्वकेलिक्रिया विचारयन् रघुनन्दनः स्थित इत्यचलपदेन व्यज्यते । तेन क्रीडायामीदृशशोभादर्शन दुर्लभमिति ॥२८॥

१, क. आवर्त्तरजलिल० । २. क. तारस्ताभि. । ख तास्तिभिः । ३. ख. रहि ।
४ ख. मणिना । ५. क. सति । ६. ख. दीप्तगर० । ७. ख. ०छन्नसाप्युदरस्य ।
८. क. ०रतिसूत्वमिति । ९. ख. मध्यमनु । १०. ख. जेतमनुयुधुनम् । ११ ख. मधमिति ।
१२. ख अनु । १३. क. ख. अपधनो । १४. ख. प्रतीव्योवयतो० । १५. क ०परिकमिव ।
१६. क. भक्तीति । १७ क ०व्याज्यते । ख व्यंजिते । १८ क मश्यतीना ।
१९. क. स्य । २०. क मजुर्मंजीरो ।

नखरततिरिन्दुमन्दकरी ।
ध्यातृजनमनोध्वान्तहरी ।।२९।।

नखरततिरिति स्पष्टम् । अय भाव —यथा रविप्रकाशेन चन्द्रो न प्रकाशते तथैतस्या अपि । किञ्च चन्द्र केवल बाह्यमन्धकार दूरीकरोति । नखततिस्तु वहिरन्तरमयीति । अत्र ध्यातृजनेत्यादिना त्वमप्येता दृष्ट्वा चित्ते स्थिरीकुर्विति । तेन च तद्ध्यानेन तव[1] भ्रमो विनक्ष्यतीति[2] व्यज्यते ।।२९।।

करे चरणे च वररेखा ।
विषमशरवागुरलेखाः[3] ।।३०।।

कर इति । यस्य करे चरणे वररेखाः विषमशरस्य कामस्य 'वागुरा या लेखा.'[4] शोभन्त इति शेष । ध्यातॄणा द्रष्टॄणा च मनो यत्र बद्ध भवतीति वागुरपदेन[5] व्यज्यते । तेन च रेखाना शोभातिशय इति ।।३०।।

उरसि मातङ्गमणिहार' ।
यथा खे तारकावार. ।

उरसीति । मातङ्गमणीना गजमुक्ताना हार, उरसि तथा शोभते यथा खे आकाशे, तारकाणां वारः समूह । अत्र तारकावारशब्देन शतभिषक्नक्षत्र व्यज्यते । तेन च हारमुक्ताना[6] न्यूनाधिक्यराहित्यमिति ।।३१।।

वैजयन्तीभासविशदम् ।
दाम वैकक्षिक सुखदम् ।।३२।।

वैजयन्तीति । आजानुलम्बिनी[7] पञ्चरङ्गमणिमयी माला वैजयन्तीत्युच्यते, तस्या भासेन विशद सुन्दर, वैकक्षिक[8] दाम सुखदमस्तीति शेष । उपवीतवदालम्बि पुष्पमाल्य वैकक्षिकमित्युच्यते । विशदमित्यनेन अनेकरङ्गमणिमयीवैजयन्तीप्रभासम्पर्केण वैकक्षिकस्येन्द्रधनु.सादृश्य व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनस्य मेघसादृश्यमिति ।।३२।।

---

१ क. व । २ क. स. वितंक्ष्यतीति । ३ ख. विषमशरवागुणवेस्वा ।
४. '—' ख. पुस्तके 'वा गुण्याः वेस्वा' इति पाठ. । ५. ख. वरगुण्य० । ६. ख. हामुक्ताना ।
. क अजानु० । ८. क वैकक्षक ।

प्रलम्बापीडवनमाला ।
लसन्त्यतिकान्तिकुलशाला:[1] ॥३३॥

प्रलम्वेति । यस्य कण्ठे बद्धा आनाभिलम्बिनीमाला[2] प्रलम्बा:[3], शिरसि बद्धाः पुष्पमयीमाला. आपीडा:[4], आपादलम्बिनीपत्रपुष्पमयीमाला वनमाला:, इमा माला अतिकान्तिकुलस्य अतिशयितकान्तिसमूहस्य शाला: निवासस्थानभूता:, लसन्ति शोभन्ते । अतिकान्तिकुलशाला[5] इत्यनेन मुकुटभूषणानेकरङ्गमणि-प्रभाभो रघुनन्दनशरीरच्छविच्छटाभिश्च[6] विचित्रवर्णा. लक्ष्यन्त[7] इति व्यज्यते । तेन च काचिदपूर्वशोभा दृश्यत इति ॥३३॥

विश्वनाथोदित गीतम् ।
कुरु श्री. । स्वश्रवणनीतम् ॥३४॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनदने
सर्वाङ्गशोभावर्णन नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

विश्वनाथोदितमिति[8] । हे श्रीः । हे लक्ष्मीः[9] । विश्वनाथेन उदितं, गीत स्वश्रवणनीत कुरु । एतेन[10] मयेद[11] स्वबुद्धचा नोत्प्रेक्षितमिति व्यज्यते । तेन च नैतत् कवितामात्रं, किन्तु सत्यमिति । तेन चैतादृशो रघुनन्दन एव नाऽन्य इति ॥३४॥

इति सिद्धि[12]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां
व्यग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकायां दशम. सर्ग. ॥१०॥

---

१. ख. लसन्त्यतिकांतिकुशला । २ क. अनःभि० । ३. क. ख. प्रलम्बा ४, क अपीड: ।
५ क. ०कान्तिकुशाला । ६. क. ०च्छाटाभिश्र । ७. क. लंक्ष्यंत । ८ ख. ०वितिमित ।
९ क लक्ष्मि । १०. ख. तेन । ११. क. सयेवं । १२. ख सिद्धः ।

[अथ एकादशः सर्गः]

काचित्ताम्बूलपेटीमधृत मणिपतद्ग्राहमन्याऽऽतपत्रम्,[1]
प्रासूनस्नेहपात्रं व्यजनमपि[2] परा गन्धवन्नीरपात्रम् ।
रत्नाढ्यं स्वर्णपात्रं विमलजलयुतं चामरं काचिदन्या,
तासां[3] मध्ये स्म काचिद्वहति रसभराक्रान्तचित्ता[4] सखीं स्वाम् ॥१॥

काचिदिति स्पष्टम् । अत्र रसभराक्रान्तचित्तेत्यनेन[5] तदुक्तेरपि रसवत्ता[6] व्यज्यते । तेन च तस्या उद्दीपनातिशय इति ॥१॥

मोदविकाशे रासविलासे,
रघुनन्दनमिथिलेशनन्दनी ।
स्वगुणगर्विता गायति गीतम्,
सकन्दर्परतिदर्पकन्दनी[7] ॥१॥

तदेवाऽऽह—मोदविकाश इति । कन्दर्पेण सहिताया रतेर्दाम्पत्यसौन्दर्ययोस्सकलगुणाना च दर्पस्य कन्दनी नाशयित्री, रघुनन्दनेन सहिता मिथिलेशनन्दनी[8], स्वेन गुणेन गर्विता सञ्जातगर्वा सती, मोदस्य विकाशो[9] यत्र तत्र, रासस्य विलासे, गीतं गायति । रघुनन्दनमिथिलेशनन्दनीति पदद्वयेनोभयो समता व्यञ्जिता । तया च शृङ्गाररसपूर्णतेति । स्वगुणगर्वितेति पदेन निजगानेन[10] रघुनन्दनगानविजिगीषा व्यञ्जिता[11] । तया च तद्गाने[12] माधुर्यातिशय इति ॥१॥

पदयुगलेन लिखति शिखिकरिणौ,[13]
लघु नृत्यन्ती भावगामिनी ।
सुचमत्कृतिर्यतिगतिचलचित्ता,
चिबुकं चुम्बति चारुकामिनी ॥२॥

पदयुगलेनेति । गाने यो भावस्तेनैव गामिनी गमनशीला, लघु शीघ्रं, नृत्यन्ती सती, पदयुगलेन शिखिकरिणौ[14] लिखति । एकेन मयूरगत्या मयूरमित्यपरेण[15] गजगत्या गजमित्यर्थः । एते गती सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धे । य

---

१. ख. मणियतद्ग्राह० । २. क व्यजश्न० । ३ ख. तासां । ४. ख ०क्रान्तन्विता । ५ ख. रसभारा० । ६. क रसवक्ता । ७ क. सकदर्प० । ८ ख. ०नंदि । ९. क विशो । १० ख. निजजानेन । ११ ख. विजिता । १२. ख. भक्ताने । १३. ख शिखिकरणौ । १४ क ख. शिखिकरणौ । १५. ख. मयूरमितिरेण ।

भावमन्या विलम्बनृत्ये महता परिश्रमेण सूचयेत्[1] सोऽनया तरलनृत्येऽपि न त्यज्यत इति भावगामिनीपदे[2] व्यङ्ग्यम् । सुचमत्कृतिरिति[3]—सुष्ठु शोभनाश्चमत्कृतयो यासु ताश्च पत्यू रघुनन्दनस्य गतयश्च तासु चल चपल चित्त यस्याः सा, कामिनी श्रीजानकी, चारु यथा तथा चिवुक चुम्बति, पत्युरिति शेष । अत्र कामिनीपदेन तस्या रघुनन्दनगतिभ्योऽधिकचमत्कारवतीर्ग्रहीतुमभिलाषो[4] व्यज्यते । तेन च नृत्ये रघुनन्दनस्य प्रवीणतातिशयो व्यज्यते ॥२॥

मिलितसुमञ्जीरध्वनिरशना[5],
ध्वनिचालितसुरपुरविलासिनी ।
श्रमजलयुतचलकुन्तलकुण्डल-
मुखमनोहरस्मितविकासिनी ॥३॥

मिलितेति । कीदृशी जानकी ? मिलितस्सुमञ्जीरयोर्ध्वनिर्यस्मिन् स चाऽसौ रशनाध्वनिश्च[6] तेन चालिताः आकृष्टचित्ताः[7] सुरपुरविलासिन्यो[8] देवाङ्गना. यया सा । ध्वनिचालितेत्यादिना तासां तन्नृत्यशिक्षोत्कण्ठातिशयो व्यज्यते । तेन च जनकनन्दन्या नृत्यनिपुणतातिशयो व्यज्यते । अत्र साकेतस्य परितो ब्रह्मादीना पूर्वावतारिकथनप्रस्तावे लिखिताना वासस्थानानि सन्त्यतस्तत्रत्यदेवाङ्गना[9] ज्ञातव्याः । श्रमेति—श्रमजल स्वेदस्तेन युत चलाश्चञ्चलाः कुन्तलाः कुण्डले च यत्र तच्च तन्मुख च तेन मनोहरस्मितस्य[10] विकासिनी । स्मितविकासिनीत्यनेन रघुनन्दनस्य नृत्यशैथिल्य[11] व्यज्यते । तेन च जानक्याः जय इति ।

तानवितानविरतरमणीगण-
राजितरासे रमणरञ्जनी ।
विश्वनायकथिता पदगाथा,
जयति सकलसन्तापभञ्जनी ॥४॥

तानेति । तानानां विताने विस्तारे निरतेन रमणीनां गणेन राजिते रासे, रमणस्य रघुनन्दनस्य रञ्जनी रञ्जनकर्त्री । अत्रेद व्यङ्ग्यम्—यास्तानान्

---

१ क. सूयचयेत् । २. ख. भाभावगामि० । ३. ख. सुचमत्कृतीति । ४. ख. ०मभिलाषं । ५-६ क. ख. रसना० । ७. क आकुचित्ता । ८. ख. ०विलान्यो । ९. क. सत्यस्तत्र० । १०. ख. मोहरस्मि० । ११. ख नृत्य० ।

सख्यो गृहीतवत्यस्तानेव स्वनूपुरघण्टिकास्वरावर्त्तन प्रकटितवतीति । तेन च तासा पराजय विस्तारितवतीति सकलस्य वक्तु श्रोतुश्च सन्तापस्य भञ्जनी, विश्वनाथेन कथिता, पदगाथा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते । जयतीति रासस्य सदातनत्वात् रासवर्णनगाथाया अपि तथात्वात् पूर्वसिद्धवपा पदगाथा, श्रीरघुनन्दनो मन्मुखेन प्रकटितवानिति व्यज्यते ॥४॥

प्रकाशपरमानन्दपरमानन्दविग्रह[1],
रामो रमयते रामा राससङ्गीतनर्त्तनै. ॥१॥

प्रकाशेति । रासे सङ्गीतनर्त्तनैर्नृत्यविशेषै[2]:, अथवा सङ्गीतैर्नर्त्तनैश्च[3] । अत्र रामरामापदाभ्या रमणशीलत्व व्यज्यते । तेन च रासक्रीडासु तृप्त्यभाव[4] इति ॥१॥

मिलितेतरेतरस्वरगान धृतेतरेतरकण्ठम् ।
नृत्यति नर्त्तयते न विमुञ्चति, जनकदुहितुरुपकण्ठम् ॥१॥

मिलित इति । मिलित इतरेतरयो. स्वरो यत्र तद्गान[5] यत्र कर्मणि तद्यथा भवति तथा, धृत इतरेतरयो. कण्ठो यत्र कर्मणि तद्यथा तथा स्वय नृत्यति, सखीश्च नर्त्तयते, तथाऽपि जनकदुहितुरुपकण्ठ समीप न विमुञ्चति । अत्र नृत्यति नर्त्तयत इति क्रियापदद्वयेन या गति[6] गृहीत्वा स्वय नृत्यति तामेव गति नेत्रकरचेष्टया त्वमपीमा गति गृहाणेति[7] सूचयतीति व्यज्यते । तेन चेतरेतरनयनेऽपि[8] मिलिते इति । न विमुञ्चतीत्यादिना नृत्ये तरलतातिशयो व्यज्यते । इत्य जानकीसहिताना सखीनामग्र[9] नृत्यन्सखी रमयते इति भाव: ॥१॥

नीराजयति मुकुटरुचिराजिभिरासामाननचन्द्रम् ।
करचलनेन चालयति चेत. पदगतेन क मन्दम् ॥२॥

नीराजयतीति[10] । आसा सखीना आननमेव चन्द्र:, चन्द्रते.[11] पचादित्वादच्[12], त, मुकुटरुचीना राजिभिर्नीराजयति । नर्त्तने मुकुटे चलति सति रत्नरोचिश्छटाभि:

---

१. ग. प्रकाश्यपर० । २. ख. ०नृत्यविशेषं । ३. ख सगीततै० । ४ क. तृप्त्यभाव: । ग तृप्त्यभाव । ५. ख. यद्गान । ६ ग ग्रति । ७. ख राहाणेति । ८ ख. ०णयनेऽपि । ग. ०नयनेऽपि । ९. ग. सखीमग्रे । ख समग्रे । १०. क. ख. नीरायतीति । ११ ग. चन्द्रते । १२. ग पचादिभ्याच ।

सखीनामाननस्य[1] नीराजनमिव करोतीति स्पष्टार्थः। एतेन सखीनां वदनस्य पूर्णशरद्विधुविजयो व्यज्यते[2]। तेन च रासे प्रकाशाधिक्यमिति। अत्र गम्यो-त्प्रेक्षाध्वनितप्रतीपालङ्कारेण[3] वस्तुध्वनिः[4]। करेति—करचलनेन सखीना चेतश्चालयति, पदस्य गतेन गत्या आसा क शिरः मन्द यथा तथा चालयति। भावसूचनायां करचलनवैलक्षण्यमवलोक्य सखीना चेतश्चलतीति[5] भावः। तस्यो-त्तमगतीना प्रशसने किञ्चिच्छिरश्चलतीति भावः। करचलनेनेत्यादिवाक्येन भावसूचने कर चालयित्वा किञ्चिद्रहस्य सूचयतीति व्यज्यते। शिरश्चालनेन[6] गतेः प्रशसा व्यज्यते ॥२॥

भ्रमद्भृकुटिदरचललोचनेन[7] कुरुते गीतनिरुक्तिम्[8],
कान्ताकान्तकटाक्षाकलने कलयति कामपि युक्तिम् ॥३॥

भ्रमद्भृकुटीति। भ्रमन्तो भृकुटिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा[9] तथा दरमीप-च्चलेन लोचनेन गीयमानस्य[10] निरुक्ति निर्वचन कुरुते। अथ भावः—यत्र कोप-स्य[11] भाव आपतति तत्र तस्य नयनारुण्याद्यनुभाव, यत्र च मान आपतति तत्र तस्याऽश्रुपाताद्यनुभावं, यत्र च विरह आपतति तत्र तस्य मुखवैवर्ण्याद्यनुभावमित्थ यत्र यो भाव आपतति तत्र तस्याऽनुभाव नयनेन[12] सूचयतीति। कान्तेति[13]—कान्ताना कान्ता मनोहरा ये कटाक्षास्तेषामाकलने स्वीकारे कामप्यनिर्वचनीया युक्ति[14] कलयति। युगपदापतत. सकलसखीकटाक्षान्[15] स्वीकृत्य प्रतिसखि[16]-निजकटाक्षैरेकदैवोत्तर[17] ददातीति भाव। एतेन विदग्धतातिशयो व्यज्यते। तेन च श्रीरघुनन्दनस्य नवनवालौकिकातिविचित्रशृङ्गाररसचमत्कारप्रकाशकत्व व्यज्यते ॥३॥

काचिद्वाद्यमिलन्मणिनूपुरमानदानकलगानैः।
अतिप्रसन्नं कुरुते रमणं कोककलारसपानैः ॥४॥

काचिदिति। काचित्सखी कोके कामशास्त्रे या. कलास्तासा रसस्य पान येषु तैः, वाद्यैर्मिलद्भिर्मणिनूपुरशब्दै[18] मानस्य सङ्गीतशास्त्रे प्रसिद्धस्य

---

१. ख. सखीनामानस्य। २. ख विज्य। ३ ख. गम्योत्प्रेच्छा०। ४. ख. ध्वनि।
५. ख चेतश्चतीति। ६. क. शिरश्चालनेगनेन। ७ क. ख. भ्रमद्भ्रकुटि०।
८ ख गीतिनि०। ९ क. तद्या। १० क गीतमानस्य। ११ ख कोप।
१२ ख. नाऽस्ति। १३ क. कांक्तति। १४ः ख मुक्ति। १५ क. कलसखी०।
१६. क प्रतीसखि। १७. क. ०रैकदंवा। १८. ख. वाद्यमिलाद्भिर्म०।

मानस्य सङ्गीतशास्त्रे प्रसिद्धस्य भाषाया[१] च 'सम'शब्देन प्रसिद्धस्य दानैश्च कलैर्मधुरस्फुटध्वनिविशिष्टैर्गानैश्च रमण श्रीरघुनन्दनमतिप्रसन्न कुरुते । वाद्य-मिलन्मणिनूपुरे निपादादिस्वराणा कलसप्तक मन्द्रसप्तक तारसप्तक च बद्धं तत्र यस्य सप्तकस्य य स्वरो वीणादिषु नि सरति तत्स्वरशब्दिनीमेव[२] नूपुरगुटिका शब्दायतीति भाव । एतेन रघुनन्दनाच्छिक्षित तत्क्षणमेव प्रदर्शितवतीति[३] व्यज्यते । तेन च तस्या अतिमेधावतीत्वमिति । अत्राऽय भाव —मानदानेति— 'व्याकरणे यथा अनुदात्तस्वरितोदात्ताः प्रसिद्धास्तथा सङ्गीतकशास्त्रे कलमन्द्र-तारा'[४] कदाचिच्चरणेन, कदाचित्करेण, कदाचिन्नयनेन, कदाचिच्छिरश्चालनेन[५] मान ददातीति । कोकेत्यादि—कोककलाप्रतिपादकार्थवद्गानेन तत्तद्विहार-स्मरणातो रसपान भवतीति भाव. ॥४॥

काऽपि मेघरमणीयरागतो वर्षातव दर्शयते[६] ।
नायकनयननवानघनेन च सुखनीर वर्षयते ॥५॥

काऽपीति । काऽपि सखी मेघनामा यो रमणीयो राग. तत. तद्गाना-दित्यथ., वर्षातव दशयते । तदेव दर्शयति—नायकस्य रघुनन्दनस्य नयनमेव नवीनो घन तेन सुखनीरमानन्दाश्रु वर्षयते । अत्रेद व्यङ्ग्यम्—कान्ताकान्त-कटाक्षेत्यादिव्यञ्जितश्रीरघुनन्दनकृतवैदग्ध्यकर्मणः मेघरागेनैवोत्तर[७] दत्तवतीति व्यज्यते । तेन च प्रथमसखीकृतस्य रघुनन्दनस्य शिक्षाप्रकटनरूपस्य कर्मणोऽना-दर इति । अत्र काव्यलिङ्गरूपकालङ्कारसङ्करध्वनितवस्तुना[८] वस्तुध्वनि. ॥५॥

दारा केदाराकलगानै. कुर्वन्त्यम्बरममलम् ।
विश्वनाथ इति वदति विकसित[९] नवनायकहृत्कमलम् ॥६॥

मेघरागगानतो मेघाडम्बरेण रासविच्छेद मत्वा काश्चित्सख्यो जगुरि-त्याह—दारा इति । दाराः श्रीरघुनन्दनस्य सख्य, केदारायाः केदाराख्यरागिण्या. कलगानै, अम्बरमाकाशममल कुर्वन्ति, मेघ दूरीकृत्य शरत्काल प्रवर्त्तयन्तीत्यर्थ. । एतेन तस्या अप्युत्तरमेता. कृतवत्य इति व्यज्यते । तेन चाऽऽसां तस्या अपि

१ ख साखायां । २. क. तत्स्वशब्दिनी० । ३. ख. र्शितवती० ।
४ '—' चिह्नान्तर्गांशस्याऽभाव क. पुस्तके । ५. क ०च्छिरश्चालेने ।
ख ०च्छिपृश्चालेनेन । ६. ख दृश्यते । ७ ख मेघरागेमैवोत्तर ।
८ ख. ०रूपकालकारध्वनित० । ९. क. ख. विकशितम् ।

वैदग्ध्यातिशय इति । नवनायकस्य श्रीरघुनन्दनस्य हृत्कमल विकसितमिति । विश्वनाथो वदति विकसितमित्रस्पर्द्धाविधायिनीसखीमेता[1] अनायासेन जयन्तीति व्यज्यते । तेन च प्रसन्नताधिकतेति । नवनायकपदेनाऽधिकरासविधानाभिलाषो व्यज्यते ॥६॥

नृत्यति रसिकशिरोमणिरामः ।
यस्य चरणचरण[2] विलोक्य ।
परिमुञ्चति मान कामः ॥१॥

क्रमेण जानकीरघुनन्दनयोर्नृत्य तत सखीना नृत्य वर्णयित्वा रघुनन्दन-नृत्य वर्णयति—नृत्यतीति । रसिकशिरोमणिः स चाऽसौ रामो नृत्यति । यस्य रामस्य, 'चरणस्य चरण गतिविशेष'[3] विलोक्य[4] कामः मान परिमुञ्चति । अन्यरसिकाना परकीयासु रसाधिक्य भवति, रघुनन्दनस्य स्वकीयास्वेवेति रसिक-शिरोमणिपदे[5] व्यङ्ग्यम । तेन च रघुनन्दनस्य परकीयापराङ्मुखत्वमिति[6] । चरणकमलमित्यादावय भाव.—यादृश[7] शीघ्रचारि[8] जनवश्यकारि रघुनन्दनस्य चरणकमल तादृश मम बाणकमल नाऽस्तीति ॥१॥

कुञ्चद्भृकुटिभावससूचनचेतश्चोरणचतुरः ।
सखीसमर्पितवीटीचर्वितदरचलकुञ्चितचिकुरः[9] ॥२॥

कुञ्चद्भृकुटीति । कीदृश कुञ्चन्त्या भृकुट्या भावस्य ससूचनेन चेतसश्चोरणे चतुरः[10], सख्या समर्पिताया वीट्याश्चर्वितेन[11] दरमीषच्चला.[12] कुञ्चिताश्च चिकुरा यस्य सः, अथ[13] प्रथमविशेषणेन चित्तचोरयित्रीणामपि निजगुणगर्विताना मनः यद्भृकुटिकुञ्चनमात्रेणैव स्वाधीन भवतीति[14] व्यञ्जितम् । तेन च तासा चित्तचोरणगर्वो मन्दीभवतीति व्यञ्जितम् । द्वितीये[15] च वीटीचर्वणादेवाऽलकचलनेन[16] कस्मिश्चिन्नृत्यविशेषे चरणमेव चलति,

१ क. विकसिनमित्रत्ययस्पर्द्धा० । ख विकसितमित्रस्पर्द्धा० । २. ख. चरणकमल ।
३. '—' चिह्नितांशस्थाने 'चरणकमल' इति पाठ ख. पुस्तके । ४ क. लोक ।
५ क. रकशिरोमणि० । ६ क. ०परालुखत्वमिति । ७. ख. यदिशं ८. क. शीघारिजन० ।
९ ख. ०समर्पितवोटी० । १०. ख. चतु । ११. ख. वीसाश्च० । १२. ख. मीचहल्पला ।
१३ ख अन । १४. ख. न भवतीति । १५. ख द्वितेये । १६. क. विटीचर्वणा० ।

भूषणानि अङ्गानि च न चलन्तीति व्यज्यते । तेन च नानारीत्या नर्त्तनमिति[1] ॥२॥

सङ्गीतकतरलिम्ना गर्विततडिद्गर्वपरिहारी[2] ।
तरुणीरश्मिसितस्मितदर्शनवनिताविस्मितकारी ॥३॥

सङ्गीतको[3] नृत्यविशेषस्तस्मिन् यस्तरलिमा चपलत्वं तेन, गर्वितायास्तडितो गर्वं परिहरतीति । एतेन चपलाया गतागतं ज्ञायते, श्रीरघुनन्दनस्य तु न ज्ञायते, किन्तु सर्वाभिः स स्वस्वपुरो नृत्यन् दृश्यत इति व्यञ्जितम् । तेन च चपलतावधिरिति । तरुणीति—तरुणीषु रश्मयः किरणा यस्य तत् 'तच्च तत्'[4] शुभ्रं स्मितं च तत् तस्य दर्शनेन वनितानां विस्मितं आश्चर्यं[5] करोतीति । यदा स्मयते तदा तरुणीषु पतिता हासच्छटा[6] किं सुधावृष्टिर्जातेति तासां विस्मयं जनयतीति भावः ॥३॥

ससखीसीतासङ्गीतेक्षणसुखितशिरःसञ्चाली ।
विश्वनाथनिनदेन निन्द्यते समदमदननिनदाली ॥४॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सङ्गीतरघुनन्दने श्रीजानकीरघुनन्दनयोर्गीतनृत्यवर्णनं[7] नामैकादशस्सर्गः[8] ॥११॥

ससखीति । सखीभिः सहितायाः सीतायाः[9] सङ्गीतकस्य ईक्षणेन सुखितः स चाऽसौ स च, ससखीत्यादिना तादृशजानकीकर्तृकनृत्यमुक्तम्, शिरःसञ्चालीत्यनेन भावसूचने जानकीज्ञापितरहस्यविज्ञातृत्वं व्यञ्जितम् । विश्वनाथो[10] रघुनन्दनस्तस्य[11] निनदो गानशब्दः तेन, समदस्य मत्तस्य मदनस्य निनदाली गानशब्दपरम्परा[12] निन्द्यते[13] । अत्र समदमदने [ति पदेन रघुनन्दनस्य मदपानं व्यज्यते । तेन च सखीसहितसीताया अपीति । श्रीरघुनन्दने][14] सदा सरलस्वभावा[15] ससखीका[16] जानकी मदपानेनैव गर्वं[17]

---

१. ख. नर्त्तनमि । २. ख. गर्वितातडि० । ३. ख सङ्गीतकं । ४. '—' अंशोऽयं नास्ति ख पुस्तके । ५. क. ख आर्य्यं । ६ ख हाच्छटा । ७. क. ०गोननृत्य० । ८. ख ०कादशो सर्गः । ९ ख. नाऽस्ति । १०. क विश्वो नाथो । ११ क ०नन्दनसास्य । १२ ख मानशब्द० । १३ ख. निंदिते । १४ [—] कोष्ठगांशस्याऽभावः ख. पुस्तके । १५ क. ०स्वभावस । १६ ख. सखी । १७. क गं ।

करिष्यन्ति, सोऽपि तस्यां [1]ताद्दगस्तेनैवाऽन्तर्द्धास्यतीति तत्त्वम् । अत्र कविपक्षे विश्वनाथेति—विश्वनाथस्य सङ्गीतरघुनन्दनकाव्यरूपनिनदेन समदस्य मदपानमत्तस्य मदनस्य निनदाली निन्द्यते । 'अत्रेद व्यङ्ग्यम्'[2]—एतेन कवेरपि रासवर्णनरसासवास्वादमत्तत्व[3] व्यज्यते । तेन च मदनः प्राकृतमद पीत्वा कथनानर्हां प्राकृतवार्त्ता कथयति । अहन्तु[4] श्रीजानकीरघुनन्दनस्य परमदिव्यरासवर्णनरमासव निपीय कथनानर्हमपि विरहवर्णन करोमीति ॥४॥

इति [5]सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिहकृताया व्यग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकायामेकादश. सर्गः ॥११॥

[अथ द्वादश· सर्ग]

[1]नृत्यन्ती रासमध्ये निजगुणगुरुतागर्वसम्भारभाजः,
प्रेयांस प्रीयमाण स्ववशमुपगत निर्भर मन्यमानाः ।
रामा रासोऽवलोक्याऽभिमतिमुपचितां हर्त्तुकामस्तदानीं,
तासामन्तर्हितोऽभूत्प्रियतमविरहव्याकुलास्ता विचेरुः ॥१॥

नृत्यन्तीरिति । रामः रासमध्ये नृत्यन्तीः, निजगुणगुरुतागर्वसम्भारभाजः, निर्भर प्रीयमाण प्रेयास श्रीरघुनन्दन स्ववशमुपगत स्वाधीन मन्यमानाः, रामाः सखीरवलोक्य, तासामुपचितां वृद्धां, अभिमतिं अभिमान, हर्त्तुकामः सन्, तदानीमन्तर्हितोऽभूत् । प्रियतमविरहव्याकुलास्ताः सख्यो विचेरुः । अत्र राम इति पदेन रमणशीलत्वं व्यज्यते । तेन च झटिति प्रकटतेति । अत्राऽभिमानहरण बाह्य प्रयोजन, अन्तर्द्धानेऽन्तरेऽयमाशय.—अन्तर्द्धायाऽऽविर्भूते[6] सख्यो मयि प्रेमातिशय विधास्यन्ति तथा मिलितायां सीतायां ममानन्दोऽभूत्तथैवेति ॥१॥

---

१. ख. हशस्तेनै० । २. '—' नाऽस्त्ययमंशः ख पुस्तके । ३. क. ०स्वादमत्तं । ४. क दातस्तु । ५ ख. सिद्ध० । ६. क. अन्तर्द्धाविर्भूते ।

प्रमोदवनकुञ्जेषु मृगयन्त्यो रघूद्वहम् ।
मार्गे मार्गे रमण्यस्ता. पृच्छन्ति स्म लतास्तरून् ।।२।।

प्रमोदेति स्पष्टम् । एतेन वनिताना विक्षिप्तता व्यज्यते । तेन च प्रमोदवनस्याऽत्युद्दीपनत्वमितीद केवलकविसम्मतम् । प्रमोदवनीयकुञ्जत्वात्तासा[1] मार्गणस्मृतिरप्यासीदन्यथा का दशा[2] भवेदिति[3] को नु जानातीति व्यङ्ग्यम् । इद तु रसिकवैष्णवसम्मतमिति ।।२।।

मन्मथबाणमथितमुद्व्यथित खलु मे हृदय,
कलयाऽशोकमशोक ! ।
शरणमित वनितामण्डलमिह रक्षसि किं न स्तोक,
अहह बत 'रक्षसि कि न स्तोक !'[4] ।।१।।

तत्र काचिदशोक पृच्छति—मन्मथेति । हे अशोक ! खलु निश्चयेन मन्मथस्य बाणैर्मथित अत एव उत्कृष्टा व्यथा जाता अस्मिन्निति तादृश मे हृदय, अशोक कलय[5] विधेहि । इति कथितेऽप्यदूरीभूतव्यथा पुनराह—शरणमिति । हे स्तोक हे क्षुद्र ! इह निर्जने वने, शरणमित शरण प्राप्त, वनिताना मण्डल समूह, किं न रक्षसि ? एतेन ये[6] एतादृग् नामख्याति कृत्वा नामानुगुण[7] कर्म न -कुर्वन्ति ते लौकिकैरेव[8] कथनयोग्या एवेति व्यज्यते । तेन च राम प्रत्युपालम्भो व्यज्यते । अशोकोऽपि रक्षा न करोतीत्यहह बत अद्भुतखेद. । अहहेत्यद्भुते, बतेति खेदे उद्व्यथितमिति[9] । एकस्मिन्बाणे लग्ने महती व्यथा भवति, पञ्चभिर्बाणैर्मथिते[10] हृदयेऽतिव्यथायुतैवेति[11] भाव । खल्विति—न हास्य करोमि न चाऽसत्य कथयामीति भावः । अशोक कलयेत्यनेन[12] रघुनन्दन दर्शयेति व्यज्यते । वनितामण्डल शरणमितमिति—प्रथमतो जात्यैव दयनीयास्तत्राऽपि निर्जने वने रक्षकरहितास्तत्राऽपि शरणागतास्ता अपि न रक्षस्यतः क्षुद्रतरोऽसीति भाव. । अहह बतेति ध्रुवपदम्[13] ।

---

१. क कुंजत्वार्सा । २ क. शा । ३ ख. भविष्यतीति ।
४ '—' क पुस्तके चिह्नगतोऽशो नाऽस्ति । ५. क कय । ६ ख ह । ७ क नामानुहूण ।
८. ख लोकैरेव । ९ ख अद्दचर्मिति । १० ख पचांभि० । ११ ख. मम हृयेऽतिव्यथायुक्तै० ।
१२. क. लयेलयेत्यनेन । १३ ख स्तोभो गाने प्रतिपद्य चरणावर्त्तनार्थः ।

कुसुमनखेन विदीर्णं बहुशो भवता हृदय,
खिद्यति[1] विगतत्रास ! ।
रहितत्रप कानने विलससि, विरहिपलाश पलाश ! ॥२॥

ततः काचित्पलाश प्रत्याह—कुसुमनखेनेति । विरहिणा पल मासमश्नाति तत्सम्बुद्धिः, हे विरहिपलाश ! हे पलाश ! भवता कुसुममेव नखस्तेन बहुशो विदीर्णमस्माक हृदय खिद्यति । अतो हे विगतत्रास ! त्व रहितत्रप त्यक्तलज्ज यथा तथा, कानने विलससि । विरहिमासाशित्वात् त्वमेव हृदय विदारितवानतस्त्वत्कुसुमनखेष्वारुण्यमिति भाव । अस्मद्रक्षक श्रीरघुनन्दन विनेदानी कस्मात्तव भयं[2] भवेदिति विगतत्रासेत्यनेन व्यज्यते । तेन च विरहे दुःखदवृक्षेभ्योऽस्याऽतिधृष्टतेति । प्रथमतोऽबलास्तत्राऽपि[3] रक्षकरहिता अस्मान्न रक्षित्वा हृदयविदारणं कुर्वतस्तव सर्ववृक्षैर्दृश्यमानस्य लज्जाऽपि न भवतीति रहितत्रपमित्यत्र व्यङ्ग्यम् ॥२॥

रसालयरमण दिश खिन्न बहु मे हृदय[4],
मञ्जरिकाकृतमाल ।
मुञ्च मुञ्च शोकदतद्गुणमिह, विदितरसाल रसाल ॥३॥

ततोऽन्या रसालमाह—रसालयमिति । रसेन आलते शोभते इति विदितश्चाऽसौ रसालश्च[5] 'तत्सम्बुद्धि, हे विदितरसाल'[6] । मञ्जरिकाभि. कृता[7] माला येन[8] तत्सम्बुद्धिः ईदृश, हे रसाल हे आम्र ! मे मम हृदय[9] बहु खिन्नं, अतस्त्वं रसस्य आलयमाधार रमणशील श्रीरघुनन्दन, दिश सूचय—इह शोकदश्चाऽसौ तस्य रघुनन्दनस्य गुणश्च सः त, मुञ्च मुञ्च । समानशीलव्यसनेषु सख्यमिति[10] । एतेन युवयोः सख्यं व्यज्यते । तेन च[11] त्व जानासीति ॥३॥

विश्वनाथचलनाथविरहितं चलदल हृदय,
भूषितविटपिसमाज ! ।
प्रिय निवेदय तव[12] वनलीनं, पाहि पाहि तरुराज ! ॥४॥

---

१ क. खिद्यति । २ ख. नाऽस्ति । ३. क. प्रथमतोऽवस्त० । ४. क. हृदये ।
५. ख. रसाल । ६. '—' ख अयमशो नाऽस्ति । ७ ख. कृत । ८. ख यन । ९. ख. हृयं ।
१०. ख सख्यमिति तन्यायाः । ११. क. नास्ति । १२. क. तत ।

विश्वनाथेति । अस्माक हृदयं, विश्वनाथस्य चलेन चञ्चलेन[१] नाथेन विरहितमस्ति । अत[२] भूषितः विटपिना समाजो येन ईदृश, हे चलदल ! तव वनलीन प्रिय निवेदय — हे तरुराज[३] ! अस्मान् पाहि पाहि । एतेन त्व चलदल., स चञ्चलस्वभावस्तेन त्व तस्य धूर्त्तता ज्ञास्यसि । त्व ससमाज. स एकाकी त्वद्वन एव लीनस्तरूनाज्ञाप्य[४] तैश्च[५]. त गृहीत्वा[६] आनय । त्व तरुराजस्त्वया नयानयविचारः कर्त्तव्य इति । तेन चेमा निरपराधास्त्यक्ता. सापराधा वेति पृच्छेति व्यज्यते । एतद्गीतेन प्रमाददशोक्ता ।।४।।

मिल[७] नाथ अए[८] !

हा हा नयनाञ्जन तापविभञ्जन रमणीरञ्जन ! तव विरहे ।
सम्भवति कराला ज्वलनज्वाला सुमनोमाला किमु विषहे[९] ।।१।।

मिलेति[१०] । अए[११] इति कोमलायेऽन्यत्स्पष्टम्[१२] । अत्र नाथेति पदेन त्वय्यन्तर्हिते वयमनाथा[१३] स्म इति व्यज्यते । हा हेति खेदे[१४] नयनयोरञ्जनमिवेति[१५] तत्सम्वुद्धि, हे तापस्य विभञ्जन ! हे रमणीना[१६] रञ्जन ! तव विरहे [१७]सुमनोमाला कराला ज्वलनस्य वह्नेः ज्वाला संभवति, उ इति प्रश्ने, त्वमेव वद, ता किं विषहे, सा कथमपि न सह्यत इति भाव· । नयनाञ्जनपदेन निमेषोऽप्यावयोरन्तर न[१८] कृतवानिति व्यज्यते । तेन च त्व प्रेमानभिज्ञ इति । भवानन्तर्द्धाय[१९] रमणीर्गंजयतीति तव नोचितमिति रमणीरञ्जनेन[२०] व्यङ्ग्यम् । तापस्य विशेषेण भञ्जनो भवास्तापदाता जात इत्याश्चर्यमिति तापविभञ्जनेत्यनेन व्यङ्ग्यम् । सम्भवति करालेत्यादाविद व्यङ्ग्यम्—विरहाग्निदग्धान्तराणामस्माक शरीरमपि भवद्गुम्फितत्वात् त्यक्तुमशक्या सुमनोमाला दहतीति । किमु विषहे इत्यनेन प्रत्यक्षमिवाऽभिमुखीकृत्य कथनेनोन्मादावस्था व्यज्यते ।।१।।

मलयाचलपवनो विषधरवदनोपरचितगमनो दहतु कृशम् ।
कथमयमुपकारी जीवनधारी जीवनहारी भवति भृशम् ।।२।।

---

१. ख. नास्ति । २. क आतः । ३. क तुरराज । ४. ख. स्तनूनाज्ञाप्य । ५ ख. तेश्च । ६ क गृहित्वा । ७. क मिलि । ८. क. अस । ९ क. विसहे । १० क. मिलिति । ११ क अर । १२. क कोमलायेऽन्यास्पष्टम् । १३ क. वयनाथा· । १४. ख. स्वेद । १५ क नययो० । ख ननययो० । १६ ख रमणी । १७ क विरहि । १८ क. नु । १९ क. ०नतर्द्धाय । २० ख. रजनपदे ।

मलयाचलेति । विषधराणां सर्पाणां वदनादुपरचितं कृतं गमनं येन स मलयाचलसम्बन्धी पवनः, कृशं दुर्बलं दहतु । उपकारी अयं जीवनधारी[1], मेघः, जीवनस्य जलस्य अथवा प्राणधारणक्रियाया धारणशीलो, भृशमत्यर्थं, जीवनहारी प्राणहर्त्ता[2], कथं भवति । एतेन पूर्वंभवत्सयोगानन्दपुष्टा अस्मान् दुःखदा अपि सुखयन्ति स्मेदानीं तु सुखदा अपि दुःखयन्तीति व्यज्यते । तेन च त्वत्सयोगवियोगावेव[3] सुखदुःखकारणं नाऽन्यदिति ॥२॥

यन्मुखचन्द्रचकोरी[4] नयने ते सततम् ।
सा सहते तव विरहमहो निर्दय ! विततम् ॥३॥

यन्मुखेति । ते तव नयने यस्या मुखमेव चन्द्रस्तत्र चकोरी, सततमभूतामिति[5] शेषः । हे निर्दय ! सा जानकी तव विततं विस्तृतं विरहते[6] इत्यहो आश्चर्यम् । तां सकृदपि न पश्यसीति भावः । एतेन सखी रघुनन्दनस्याऽतिप्रियां जानकीं मन्यते इति व्यज्यते । तेन च दुःखश्रवणादयं शीघ्रं प्रकटो भविष्यतीति तस्या अभिप्राय इति ॥३॥

हरिचन्दनघनसारस्पर्शो विरहशिखी ।
दहति रश्मिभिस्तनुं दिनेशश्चन्द्रमिषी ॥४॥

किञ्चिदुपायं कुरुनेति चेत्तत्राऽऽह—हरिचन्दनेति । हरिचन्दनघनसारयोः स्पर्शो, विरह एव शिखी वह्निः[7], तनुं दहति, किं च चन्द्रमिषी[8] चन्द्रव्याजवान्, दिनेशः सूर्यो, रश्मिभिः[9] किरणैः तनुं दहति । एतेन प्रसिद्धवह्नेर्विरहवह्नेर्वैलक्षण्यं व्यज्यते । तेन च तच्छान्त्युपायाभाव[10] इति । अत्र रूपकालङ्कारध्वनितवस्तुना[11] वस्तुध्वनिः ॥४॥

गतविग्रहवर्णा[12] च्युतमुखवर्णा[13]ऽतिबधिरकर्णा[14] तव प्रिया ।
न रसायनरक्ष्या धिक्कृतभक्ष्या[15] त्वयैव लक्ष्या गतक्रिया ॥५॥

---

१ क जीवनधारि । २. क. प्राणकर्त्ता । ३. क सयोगवियोगावेयोगावेव ।
४. ख. जन्मुख० । ५. ख. ०मभूतामि । ६. ख. विरह सहते । ७. ख वह्नी ।
८. ख. चन्द्रमिसी । ९. क. ख रस्मिभिः । १० ख. तेच्छान्त्युपाया० ।
११ क. ०ध्वनितावस्तुना । १२. १३. ख. ०वर्णं । १४. ख. कर्णं । १५. ख. ०भक्षा ।

तव प्रिया ईदृगवस्थेत्याह—गतेति। गतो विग्रहस्य शरीरस्य वर्णो[1] यस्या सा, च्युता मुखाद् वर्णा अक्षराणि यस्या. सा, अतिवधिरौ कर्णौ यस्याः सा, गता क्रिया यस्या सा, धिक्कृतानि तिरस्कृतानि भक्ष्याणि यया सा, ईदृशी तव प्रिया रसायनरक्ष्या[2] न, किन्तु त्वयैव लक्ष्या द्रष्टव्या। च्युतमुखवर्णेत्यादिना जानक्या व्याधिजडतावस्थे व्यज्येते। तेन च विरहपूर्णतेति। गतविग्रहवर्णेत्यनेनाऽस्माभिर्न तथा परिचीयते इति व्यज्यते। तेन च त्वमेवाऽवलोक्य परिचिनुहीति। अतिवधिरकर्णेत्यनेन बोधयितुमशक्येति[3] व्यज्यते। न रसायनरक्ष्येत्यनेन वैद्यदर्शनानर्हता व्यज्यते ॥५॥

तव नामनि कर्णे भणितेऽभ्यर्णे, तारसुवर्णे पतति चला।
मुञ्चति निश्वासानमितव्यासाननलनिकाशानतिविकला ॥६॥

तवेति। तारा[4] अत्युच्चा शोभना वर्णा यस्मिंस्तस्मिंस्तव नामनि, चरमदशा ज्ञात्वा कर्णे अभ्यर्णे समीपे भणिते सति, चला सती निपतति अपि च अमित. व्यासो विस्तारो येषा तान्, अनलनिकाशान् वह्निसदृशान्,[5] निश्वासान् मुञ्चति। अत्र पतति चलेत्यन्तेन[6] पूर्वार्द्धेन भवदागमनज्ञानभवदर्शने उत्थानपतनयोर्हि तु व्यज्यते। तेन च त्वदागमनमेव तस्या जीवनोपाय इति। उत्तरार्द्धेन तदन्तःकरण[7] भवद्विरहवह्निरिव[8] दग्धवान्। सम्प्रति तदीयभवद्विरहानलज्वालाभिः भवद्विहारवनमस्माक शरीर च प्रदह्यते[9]। तत्र स्थितस्य तव ईषदपि सन्तापो न भवतीत्याश्चर्यमिति[10] व्यज्यते[11] ॥६॥

ससलिलकणनलिनीदलशयन तप्तमय।
भवति सुधाकरकरनिकरोऽपि हि गरलमय ॥७॥

ससलिलेति। सलिलकणै सहित नलिनीदलाना शयन, तप्तमय सन्तप्तलोहो भवति। यथा तप्तलोहस्पर्शेनाऽङ्गानि[12] दह्यन्ते तथैवेति भाव.। एतेन वह्निदाहस्य चिह्न नश्येदपि[13], लोहदाहस्य तु नैव नश्यत्यतो[14] भवत्प्रियाया सौन्दर्यहानिर्भविष्यतीति व्यङ्ग्यम्। तेन च शीघ्र रक्षेति।

---

१ ख वराणे। २. ख रसाधनरक्ष्या। ३. ख मशक्येते। ४ क. तरा।
५ ख वह्निसह०। ६ क चलत्यतेन। ७. क तदतुस्करण। ८. क वह्निरेव।
९ क पिदह्यते। १० ख भवतित्या०। ११. ख इति व्यज्यते तेन च। १२ क भप्तलोह०।
१३ ख मश्येदपि। १४ ख. नयस्यतो।

सुधाकरस्य करनिकरः किरणसमूहोऽपि, हि निश्चित गरलमयो भवति । एतेनाऽस्माभि. कृतदाहशान्त्युपाया[१] विपरीता जाता इति । तेन चोपचार कर्त्तुं न शक्नुम इति । तेन च यदि विष व्याप्नुयात्तर्हि नृत्यगीतादिविस्मृत्या रासहानिर्भविष्यतीति व्यङ्ग्यम् ॥७॥

तां तनुतां तनुगतां वीक्ष्य नो हृद्भीतम् ।
पवनस्पर्शोत्पतनमालिभिर्निर्णीतम् ॥८॥

तामिति । तनुगता, ता अनिर्वचनीया, तनुतां कृशतां, वीक्ष्य, नोऽस्माक हृद्भीतम् । यत आलिभि. सखीभि[२], पवनस्य[३] स्पर्शेन उत्पतनं निर्णीतम् । एतेन मार्गणेऽपि सा न प्राप्स्यते[४] इति व्यङ्ग्यम् । तेन च कृशताऽवधिरिति[५] ॥८॥

अपनिमिषमधीर नयन नीर वहति शरीर घर्मरसम् ।
रहयति को रामाऽधिरजनि रामाजनमिह कामातुरमनसम् ॥९॥

अपनिमिषमधीर तस्या नयन नीर वहति, शरीर घर्मरस स्वेद वहति । घर्मरसमित्यत्राऽय भावः—शीतमागतमिति । अपनिमिषमधीरमित्यादिना[६] दशमावस्थापूर्वरूपो व्यज्यते । तेन च यदि सम्प्रति नाऽऽयासि, तर्हि तत्प्राप्तिर्न भविष्यतीति । रहयतीति[७]—हे राम रमणशील ! अधिरजनि रजन्या, इह निर्जने वने, कामेनाऽऽतुर मनो यस्य त, रामाजन रमणशील जन को रहयति त्यजति ? त्वां विना न कोऽपीत्यर्थः । रहयतीत्यनेन एतत्पश्चादस्माकमपीमामवस्था जानीहीति व्यज्यते । रामेत्यनेन रामा इत्यनेन च रामेति तव नाम अस्माभि सह रमणेनैव सिद्धमिति[८] व्यज्यते । मम कोऽपराध इति चेत्तत्राऽऽह—कामातुरमनस्कतयेयमस्माकमवस्था जाताऽतस्तवाऽपराधो भविष्यतीति भावः ॥९॥

अवितप्रेमाकर दीनदयाकर ! हृदयशयां स्मर भूमिशयाम् ।
अलमधिकविरत्या त्वमिहाऽऽगत्याऽनुपरतगत्या तनुहि दयाम् ॥१०॥

---

१. ख ०सात्युपाया । ख २. सखिभिः । ३ ख. पवन । ४ क प्राप्स्यते । ५. ख. शक्तताव० । ६ क अहनिमिषमेधीर० । ७. ख नाऽस्ति । ८. क सिद्धिमिति ।

अवितेति । दीनेषु दया करोतीति तत्सम्बुद्धि', अत एव अविता रक्षिताः प्रेम्ण आकरा[1] आश्रया येन स तत्सम्बुद्धि, हृदयशया ता जानकी भूमिशया स्मर । अधिकविरत्या अल, न उपरतिर्विश्रामो यस्या तया गत्या, त्वमिहाऽऽगत्य, दया तनुहि । अवितप्रेमाकरेत्यादिना जानकीतोऽधिक. को नु प्रेमवान्, सम्प्रति कश्च दीनतरः ? तद्यदीमा न रक्षसि तर्हि भक्तवत्सल इति दीनबन्धुरिति तव नामनी यास्यत इति व्यञ्जितम् । तेन च तवाऽपि महाननर्थो भविष्यतीति । अनुपरतगत्येत्यनेन[2] चेदाशु नाऽऽयास्यसि[3] तर्हि नेमां प्राप्स्यसीति व्यञ्जितम् । तनुहीत्यनेन भवदल्पदयया भवदागमन न ज्ञास्यति, तस्मात् कृपाकटाक्ष विधाय दया विस्तारय, येन सुखिता भवेदिति व्यञ्जितम् ॥११॥

दयालुता[4] तव सहजा हा हा केन हृता ।
तत्सरभसपरिरम्भणरुचिरपि कुत्र धृता ? ॥११॥

दयालुतेति । हा हेति खेदे । हे नाथ ! तव सहजा स्वाभाविकी[5] दयालुता केन[6] हृता ? तस्याः सरभसेषु[7] सवेगेषु परिरम्भणेषु रुचिः प्रीतिः अपि कुत्र धृता ? भवतेति शेष. । एतेन रघुनन्दनस्याऽऽगमनविलम्बकारिता व्यज्यते । तेन च त्व कयाऽपि रममाणोऽसीति । दयालुतेत्यत्र भवानीदृशेऽपि खेदे स्वप्रेयस्यामस्या दया न करोषि, तेन ज्ञायते स्ववशीकृते जने तव[8] दयाविधान केनचिद्धृतमिति भाव' । तत्सरभसेत्यादौ परिरम्भणबहुत्वेन दयया[9] भवानागत्य वारं वारमुत्थाप्यैनामालिङ्गिष्यति, तदा सावधाना भवेद् वा न भवेदिति व्यङ्ग्यम् ॥११॥

अस्मिन् विषमे समये सुख तु पश्य पते ! ।
विश्वनाथनाथाऽऽगमन कुरु हे सुमते ! ॥१२॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार[10]-श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनदने विरहवर्णन नाम द्वादशस्सर्गः ॥१२॥

---

१. ख आकारा । २. ख अनुपरतगते० । ३. क. नायास्यति । ४. ख. दयालता । ५ क स्वाविकी । ६. ख के । ७. ख. ररभशेष । ८ ख. व । ९. ख. दययदा । १०. ख. श्रीमहाराजकुमार ।

आस्तां परिरम्भणमागत्य मुखमात्रमपि पश्येत्याह—अस्मिन्निति । हे पते ! अस्मिन्विषमे[1] समये मुखं तु पश्य । हे सुमते, विश्वनाथनाथ ! आगमन कुरु । "आश्रितरक्षण यद्धर्म[2]" इत्युक्तम्, तदास्ताम् । सम्प्रत्यागत्य मुख तु पश्येति भावः । कविपक्षे—विश्वनाथनाथेत्यनेन कविः प्रियामुखमनवलोकमानस्य निजनाथस्य तव किं यशो वर्णयिष्यतीति व्यज्यते । तेन चैतावताऽपि नाऽऽगमिष्यसि तदा तवाऽयशो वर्णयिष्यतीति । शिवपक्षे—यो विश्वनाथो निजप्रियायै अर्द्धाङ्गमेव दत्तवान्, तस्य परमरसिकस्य स्वामिनस्तवेयती निष्ठुरता किमुचितेति त्वमेव विचारयेति व्यज्यते । वयमेतावन्त[3] कालमिमा जीवन्ती ज्ञातवत्यः । सम्प्रति जीवति न वेति त्वमेव मुखमवलोक्य कथयेति सुमतेत्यनेन व्यज्यते ॥१२॥

इति सिद्धि[4]श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारि-
विश्वनाथसिंहकृतायां व्यंग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि
टीकायां द्वादशः[5] सर्गः ॥१२॥

[अथ त्रयोदशः सर्गः]

सत्कला स मृगराजसद्गतिः कुन्दपुष्पभसुमाल्यमण्डितः ।
दर्शनेन सुखवृन्दवर्द्धनो[6] वन्यमञ्जुलपरागपिङ्गल. ॥१॥

सत्कल[7] इति । सोऽन्तर्हितः[8] रामचन्द्रः चन्द्रमा उदियाय । कीदृश :—सत्य. कला. चतु.षष्टिकलाः यस्य स , चन्द्रपक्षे—सत्यः कलाः षोडशकलाः यस्य

---

१. ख. न्विषमे । २ क. यासं धर्म । ख यंत धर्म । ३. क तपमेतावंत । ४. ख सिद्धः । ५ द्वादश । ६ ख ०वदवंद्धनो । ७. ख. तत्कल । ८. ख. सोऽर्तहित ।

स, पुनश्च मृगराज सिंहस्तस्येव सती गतिर्यस्य, चन्द्रपक्षे—मृगराजा मृगश्रेष्ठा. तैः सती गतिर्यस्य स, चन्द्ररथे मृगा योजिता इति प्रसिद्धिः, पुनश्च कुन्दपुष्पाणीव[1] भानि नक्षत्राणि तेषां सुष्ठुमाल्येन मण्डितः, चन्द्रपक्षे—कुन्दपुष्पाणीव[2] भानि नक्षत्राणि तेषा माल्येन समूहेन मण्डितः शोभितः; दर्शनेन सुखवृन्दवर्द्धन[3] इत्युभयत्र समानम्, पुनश्च वन्यमञ्जुलपरागपिङ्गल;[4] चन्द्रपक्षे—वन्यः जलसम्भवः स चाऽसौ मञ्जुलपराग इव पिङ्गलश्च स. । अत्र वन्येत्यनेन कुसुमितनिकटकुञ्जे[5] निलीय स्थित इति व्यज्यते । तेन च वनितावचनश्रवणमिति ॥१॥

रामचन्द्र उदियाय चन्द्रमा सुस्मिताशुनिकरेण तापहा ।
य निरीक्ष्य वनितौघवारिधि. सञ्चलन्नयनदोस्तरङ्गित. ॥२॥ युग्मम् ।

पुनश्च शोभनस्मिताशुनिकरेण तापहा, चन्द्रपक्षे—सुस्मितमिव योऽशूनां[6] निकरः समूहस्तेन तापहा, य रघुनन्दन निरीक्ष्य, वनितानामोघः समूह एव वारिधि., सञ्चलद्भिर्नयनैर्दोभिर्भुजैश्च तरङ्गित सञ्जाततरङ्ग आसीदिति शेषः । अयमागतोऽयमागत[7] इति परस्पर कथयन्त्यश्चञ्चलनयनबाहवोऽचला आसन्निति भाव. । चन्द्रपक्षे—य चन्द्र निरीक्ष्य वनितौघ इव वारिधिः सञ्चलन्नयनदोष इव तरङ्गाः सञ्जाता अस्येति स., यथा समुद्रश्चन्द्र वीक्ष्य वृद्धि प्राप्नोति, तथा रामचन्द्र वीक्ष्य सखीसमूहोऽप्यानन्द प्राप्तवानिति भाव. । अत्र श्लेषानुप्राणितरूपकालङ्कारेण सखीनामाह्लादजनकत्व तापहारकत्व च वस्तु ध्वन्यते ॥२॥

या वियोगकृशतापरिच्युता[8] भूषणालिरखिलाङ्गके[9] पुन ।
न स्म माति परमोदमासले यत्नतोऽपि परिधारिता मुहु ॥३॥

येति । या भूषणानामालि., वियोगे कृशतया परिच्युता, सा परेणोत्कृष्टेन मोदेनाऽऽनन्देन मासले निखिलाङ्गके मुहुर्यत्नतः[10] परिधारिताऽपि पुनर्न माति स्म न ममे[11] इत्यर्थं[12] । एतेन पूर्वसङ्गमादिदानी रघुनन्दनदर्शनस्याऽधिकानन्दप्रदत्व व्यज्यते । तेन च विप्रलम्भशृङ्गारस्याऽतिशयितप्रीतिजनकतेति । अत्राऽधिकालङ्कारध्वनिवस्तुना[13] वस्तुध्वनि. ॥३॥

---

१ क. कुंदपुष्पाणीवभानि । ख कुंदपुष्पारोभानि । २ ख. कुंदपुष्पाणि च ।
३ ख सुखदवृंद० । ४ ख. मन्यमजुल० । ५. ख ०कुंजि । ६. ख. योशना ।
७. क ०माग । ८ ख. वियोगकशता० । ९. क. ख. ०रवलांगके । १०. ख. मुहूर्त्तयत्नतः ।
११. ख ममा । १२ ख वित्यर्थ । १३. क. ०लकारध्वनित० ।

काऽपि चुचुम्ब सुरुचिर चिबुक चन्द्रमुखी ।
काचिदुवाच दैवदोषो मे त्वमकलुषी ॥१॥

श्रीरघुनन्दनप्राप्तौ सखीना चेष्टा वर्णयति—काऽपीति । काऽपि चन्द्रमुखी सुरुचिर चिबुक तस्येति शेष., चुचुम्ब । साधु साधु भवानेवेदृश कर्म करोतु इत्युक्त्वा चुचुम्बेति भावः । अत्र चन्द्रमुखीत्यनेन दर्शनानन्दान्मुखप्रकाशो व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनमुखकमलसङ्कोच इति । काचिदिति मे मम दैवस्य भाग्यस्य दोष, यतस्तव वियोगो जातः, त्वमकलुषी निरपराध एवेति काचिदुवाच[1] । एतेन यतो भवद्विरहेण मरणान्तक्लेशो[2] जातोऽतो भवानेव कलुषीति व्यज्यते । तेन च तस्या अन्त.कोप इति ॥१॥

काचित्परिरेभे पटु रमणं मोदवती ।
काचिदबध्नान्निजपतिवसने भीतिमती ॥२॥

काचिदिति । काचिन्मोदवती रमण श्रीरघुनन्दन, पटु यथा तथा परिरेभे । अत्र परिरेभे इत्यनेनाऽल्पकालागतमपि[3] रघुनन्दन चिरकालागतमिवाऽमस्त इति व्यज्यते । तेन च प्रेमातिशय इति । अत्र ईदृशो हावभावान्वधाय[4] परिरेभे । यथैष वशीभूय क्षणमपि मा[5] न त्यजेदिति पटुपदेन तदाशयो[6] व्यज्यते । तेन च तस्या गुणगर्वितात्वमिति । काचिदिति—काचिद् भीतिमती. निजस्य पत्युश्च वसने अबध्नात्[7], एकग्रन्थ्या ग्रथितवतीत्यर्थ. । एतेनाऽय न पुनरन्यत्र गच्छेदिति तदाशयो व्यज्यते[8] । तेन च तस्या अधैर्यमिति ॥२॥

काऽपि वीणया जगौ रमणगुणमतिह्लीदम् ।
अकृत भ्रूकुटितर्ज्जन काचन पतिभीदम् ॥३॥

काऽपीति । काऽपि अतिह्लीदं अतिलज्जाप्रदं रघुनन्दनस्येति शेषः, रमणस्य तस्यैव गुण, वीणया जगौ । काचनेति—काचन पत्युर्भीद, भ्रूकुटचा तर्ज्जनमकृत । एतेन यतस्त्व पलायसेऽतः सर्वा वय आवृत्य कोष्ठागारे त्वा

१. ख काचिदुचाल । २. क मरणमरणांत । ३. क. ०नाल्पकल्पकाला० ।
४. क. ०न्विधा । ५ क. मान । ६ ख. तदाशोयो । ७. क. अवध्वात् । ख. अवन्धात् ।
८. ख. व्यज्य ।

रक्षिष्याम इति[1] व्यज्यते[2] । तेन च तस्या-अतिसन्निकृष्टवर्त्तित्वमिति काऽपीत्यादिना लज्जित रघुनन्दन दृष्ट्वेमा मान न[3] कुर्यु रिति[4] तदाशय व्यज्यते । तेन च तस्या. विहारविलम्बाऽसहिष्णुत्वमिति । अतिह्रीत मित्यत्राऽय भाव —विरहविषयकस्य[5] जानक्याः सखीना च क्लेशस्य गाने रघुनन्दन लज्जित चकारेति ।।३।।

काचिदासनेऽवदन्निषीद प्रिय ! ससुखम्[6] ।
विश्वनाथनाथोऽसि[7] कथय नः किं कलुषम् ।।४।।

काचिदिति । हे प्रिय ! ससुख[8] यथा तथा आसने निषीद । त्व विश्वनाथोऽसि, अतः कथय[9], नोऽस्माक कि कलुषमिति काचिदवदत् । अ कथयेत्यनेन स्वापराध[10] वय न विद्म इति व्यज्यते । तेन च शरीरान्तसम क्लेशरूपप्रायश्चित्तकारयिता[11] त्वमेव जानासीति कटाक्षयतीति ।।४।।

अविदितविरहजपीडा पुरेयमन्तर्द्धिमागता[12] सीता ।
तामिह वेदयितु तामहमप्यन्तर्हितोऽभूवम् ।।१।।

इमा ममोपर्यपराध स्थापयित्वा मन्मुखेनैव विकथयिष्यन्तीति विज्ञा परमप्रवीणो रघुनन्दन उत्तरयति—अविदितेति । न विदिता विरहजा पीड यया सा इय सीता, पुरा अन्तर्द्धिमन्तर्द्धान आगता प्राप्ता । अतोऽहमपि त सीता ता तादृशी पीडा[13] वेदयितुमन्तर्हितोऽभूवम् । एतेन यथेमा पीड स्मृत्वा कदाचिदपि पुनर्नाऽन्तर्दध्यादिति[14] व्यज्यते । तेन चाऽहमपि नाऽन्तर्हित भविष्यामीति[15] ।।१।।

मा वोचत[16] मा किमपि प्रिय[17] प्रिया ! जातमेव यज्ञातम् ।
सस्मितमुत्तरयित्वा सखीरिति[18] प्राह जानकीं रामः ।।२।।

---

१. ख. नाऽस्ति । २. ख. विज्यते । ३. क. द । ४ क. ख कुर्य्यंरिति ।
५. क ०विषकस्य । ६. क सुखम् । ७ ख. विश्वनाथोऽसि । ८ ख सुख । ९. क. कथ
१० क स्वापरा । ११. ख त्वयाशरीरांतशमक्लेशरूपप्रायश्चित्तकारयित्वा ।
१२. ख मागत । १३. ख नाऽस्ति । १४ क. ख. पुर्नां तर्दध्यादिति ।
१५. क भविष्यामिति । १६. ख. योवत । १७ क. नाऽस्ति । १८. ख. रसखी० ।

तां प्रसादयितु[1] पुनराह—मा वोचतेति । हे प्रिया. । प्रिय मां किमपि मा वोचत मद्वचनस्योत्तर न कथयत, यज्जात तज्जातमेव सखीरिति सस्मितमुत्तरयित्वा, रामः जानकी प्राह। प्रियमितिपदेन यो यस्याः प्रियो भवति सा तस्याऽपराधमपि गुणतया गणयतीति व्यज्यते। [तेन च अपराधकथन-मनुचितमिति । सस्मितमित्यनेन निजस्मितसुधया तासामनुतापमपि विस्मारितवानिति व्यज्यते][2] ।।२।।

प्रिये ! पश्य[3] सरयूरिह विलसति कोमलशैवलकमला ।
ललितकाकलीकलितखगालीसङ्कुलालिकुलकमला ।।१।।

अथ सरयू वर्णयन् जलविहारोत्साह वर्द्धयति—प्रिये पश्येति । हे प्रिये ! त्व पश्य, कोमल. शैवलो यस्मिस्तत्कमल जल यस्या सा, सरयूरिह विलसति । कीदृशी सरयूं—ललितया काकल्या सूक्ष्ममधुराव्यक्तध्वनिना कलितानि युक्तानि खगानामालि.[4] पङ्क्तिः तया सङ्कुलानि व्याप्तानि च अलीना भ्रमराणा कुलानि येषु तानि कमलानि यस्या सा । अत्र पक्षिणा विहारेण[5] मकरादिदुष्टजीवभय नाऽस्तीति व्यज्यते । अत्र भ्रमरसमूहशब्देन न कमलाना-मीषद्विकसितत्व । व्यज्यते, तेन च प्रातः समय[6] इति । अत्र सरयूविहाररूप-वाच्यस्य[7] सकलविशेषणप्रतिपाद्यतया वैशिष्ट्येन[8] वस्तुना वस्तुध्वनि ।।१।।

प्रचुरपरागपूरपरिपूरितकटिमितसलिलसुललिता[9] ।
मिलितमीनमीनाङ्ककेतुसमतुङ्गतरङ्गतरलिता ।।२।।

प्रचुरपरागेति । प्रचुरस्य परागस्य पूरेण परिपूरितेन कटिमितेन[10] सलिलेन सुललिता, मिलिता मीना येषु ते अत एव मीनाङ्क. कामस्तस्य केतुना समास्तुल्या ये तुङ्गास्तरङ्गास्तैस्तरलिता चपलेत्यर्थः । प्रचुरेत्यादिना जले सौगन्ध्यं व्यज्यते । कटिमितेत्यादिना निमज्जनशङ्काऽभावो व्यज्यते । तेन च विहारयोग्यतेति । तुङ्गतरङ्गेत्यादिना तत्र कामोद्दीपनं भवतीति व्यज्यते । अत्रोपमालङ्कारेण वस्तुध्वनि. ।।२।।

---

१. ख प्रसादयतुं । २. [—] कोष्ठान्तर्गतोऽशो नाऽस्ति ख. पुस्तके । ३ ख. पश्य ।
४. क. खगमालि. । ५. ख. विहारे । ६. क प्राहः समय । ७. क. ०विहाररूपाच्यस्य ।
८ ख वैशिष्टेन । ९. ख. ०परागपूरपरित० । १०. ख. सकटिमिते ।

कुमुदवृन्दमकरन्दविशदवहुविन्दुचारुचन्द्रकिता[1] ।
अनिलसमाकुलकूललताकुलकुसुमावलिपरिकलिता ॥३॥

कुमुदेति । कुमुदवृन्दमकरन्दस्य[2] विशदैर्बहुभिर्विन्दुभिश्चारु[3] सम्यक् चन्द्रकिता[4] सञ्जातचन्द्रकेत्यर्थः । अनिलेति—अनिलेन समाकुलाना कूललता-कुलाना कुसुमावलिभ परिकलिता व्याप्ता । कुसुमवृन्देत्यादिपदेन[5] मकरन्द-विन्दुपातात् कुमुदानामर्द्धनिमीलन व्यज्यते । कमलकुमुदयोरर्द्धोन्मीलननिमीलनाभ्या रात्रिदिनसन्धौ द्वयोरपि[6] समा शोभा व्यञ्जिता । तया च रात्रिन्दिवशोभातोऽधिका[7] प्रात शोभा व्यञ्जिता । अनिलेत्यादौ तीरस्थतरुलता अपि शोभातिशय दर्शं दर्शं पुष्पाञ्जलिमिव ददतीति व्यङ्ग्यम् । अत्र वस्तुनोत्प्रेक्षालङ्कारध्वनिः । कूललताकुलेत्यादिना दिवाऽपि विहारयोग्यता व्यञ्जिता ॥३॥

तव नाभीसुषमानुकरणकरललितावर्त्तविशाला ।
विश्वनाथमानसपरिषेवितसुमणितीर्थरुचिशाला ॥४॥

तवेति । तव नाभीसुषमाया अनुकरणकरैर्ललितैरावर्त्तैर्विशाला, विश्वनाथस्य मानसेन परिषेविता सा चासौ सुमणितीर्थरुचीनां शालेव शाला च सा । नाभीत्यादिनाऽऽवर्त्ताना लघुता गम्भीरता च व्यज्यते । अत्र प्रतीपालङ्कारेण वस्तुध्वनिः । सुमणितीर्थरुचिशालेति पदेन उभयतटघटितमणि-जटितघट्टरोचिश्छटा[8] व्यज्यते । तेन च रात्रावपि[9] विहारयोग्यता व्यञ्जिता ॥४॥

उडुगणखग[पा]लीतालिका[10] यत्करालो,
घनहिमकणपालीमौक्तिकालीमराली ।
विधुकिरणमृणालीभक्षणोद्यद्गजाली[11],
तिमिरमहिषकालो सोऽभ्युदेत्यंशुमाली ॥५॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारश्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनदने प्रादुर्भूतरघुनदनकर्तृकसरयूवर्णन नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

---

१ ख कुमुदघट० । २. क कुदवृद० । ३. क ०विन्दुभिर्विदुभिश्चारु । ४. क. चद्रकिका । ५. क कुसुमवृदे० । ६ क रूयोरपि । ७ ख. रात्रेदिव० । ८. ख उभयतर० । ९ ख रात्राव । १० क. उडुगणखपाली० । ख. उडुगणखगाली० । ११ क ०किरणमृणली० ।

उडुगणेति[1]। 'यस्य करणा आली पङ्क्तिः[2], उडूनां नक्षत्राणां गण एव खगाना माला[3] पङ्क्तिस्तस्यास्तालिका, यथा तालीवादनेन खगा उड्डीयन्ते तथा किरणैर्नक्षत्राणीति भावः। घनानां निबिडानां हिमकणानां पाल्येव मौक्तिकाली तस्या मराली, यथा हंसी मौक्तिकानि कवलयति तथैवेयं हिमकणानीति भावः। विधुकिरणा एव मृणाल्यस्तासां भक्षणायोद्यन्ती[4] गजाली गजपङ्क्तिः, तिमिरमेव महिष. तस्य काली दुर्गा ईदृशी, यस्य करणां किरणाना माली स अशुमालो सूर्यः अभ्युदेति। एतेन स्नानसमयो व्यज्यते। तेन च विलम्बो न कार्य इति।

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराज[5]-श्रीविश्वनाथसिंहकृतायां
व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि[6] टीकाया त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

[अथ चतुर्द्दशः सर्गः]

सहचरीसमुदायसमन्वितः,
शयसरोजगृहीतधरासुतः।
सुखदसारववारि विगाहितुम्,
प्रचलति स्म ततो रघुनन्दनः ॥१॥

सहचरीति। शयसरोजेन करकमलेन गृहीता धरासुता जानकी येन स, सुखद सरय्वा इद सारव तच्च वारि च तत्। अत्र शयसरोजेत्यादिना जलविहारे जानक्या निषेधवचनं व्यज्यते। तेन च तस्या भीतात्वम्[7], तेन च मुग्धात्वम्, तेन च रघुनन्दनानन्दजनकभावग्राहिकात्वमिति ॥१॥

---

१. क. तदुगणेति। २. '—' अयमंशः ख पुस्तके नाऽस्ति। ३ ख. पाली।
४ क. भक्षणायोपती। ख. भक्षणांपोषती। ५. ख. सिद्धिः श्रीमहाराजाधिराज।
६. ख. ०नाम। ७. क. भीतत्वम्।

सरयूजले जानकीजानि.,
विहरति रमणीगणकृतरतिरिह,
सवधुसिन्धुरुचिहानि ॥१॥

सरयूजले इति । रमणीगणे कृता रतिर्येन सः । अनेन रघुनन्दनस्य सर्वत्र प्रेमवत्ता व्यज्यते । तेन च दक्षिणनायकतेति । जानकीजानिरित्यनेन रघुनन्दनस्य जानक्यामधिकप्रेमेति[1] व्यज्यते । तेन चाऽनुकूलनायकतेति । सवधोर्वधूसहितस्य[2] सिन्धोः रुचेः शोभायाः हानिर्यस्मात्स., यस्य शोभां निरीक्ष्य तादृशः समुद्रो मलिनो भवतीति भावः ॥१॥

लक्षितकायविलक्षितललनाकौतुकविहसितवदनः[3] ।
कृतचुम्बनपरिरम्भणरञ्जनरमणीसमुदितमदनः ॥२॥

लक्षितेति । लक्षितो दृष्ट. कायो यासा ताः, एतेन आर्द्रसूक्ष्मपटवत्तीत्व व्यज्यते[4] । अत एव विलक्षिता लज्जिता या ललनास्तासा कौतुकेन विहसित वदनं यस्य सः, कृतानि चुम्बनपरिरम्भणरञ्जनानि यासा ताश्च ता. रमण्यश्च तास्तासु समुदित सम्यगुद्दीपितो मदनो येन स. । अत्र कौतुकपदेन वारं वारं कमलैर्गोप्यमानान्यप्यङ्गानि गुप्तानि न भवन्तीति व्यज्यते । तेन च रघुनन्दनस्य रसाधिक्यमिति । अत्र ग्रन्थे मदनपदेन रघुनन्दनविषयकसखीसम्बन्धिप्रेमा विवक्षितः । तथा चोक्त *भक्तिरसामृतसिन्धौ "प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथामिति"* । अथवा यथा साकेते सकलसामग्री सच्चिदानन्दरूपा तथा कामोऽप्यन्य इति । रमणीसमुदितमदन इत्यनेन सम्भोगाभावो व्यज्यते । तेन च धर्मशास्त्रज्ञत्वम्, तेन च रघुनन्दनस्य धैर्यातिशय इति[5] ॥२॥

कुचकुङ्कुमकस्तूरीकर्द्दमकलितकलेवरलसित. ।
जलधरसमये येन धातुयुतमरकतशैलो हसित. ॥३॥

कुचकुङ्कुमेति । कुचस्य कुङ्कुमकस्तूर्य्योः कर्द्दमेन कलितं युक्त यत्कलेवर तेन लसितः शोभितः, अत एव येन जलधरसमये वर्षाकाले धातुभिर्गैरिकादिभिर्युतः स चाऽसौ मरकतशैलश्च स. हसितो भवतीति शेष । अत्र

१. ख जानक्यामधिक । २. क सवेषोर्वधू० । ख. सवधोर्वध० । ३. ख. ०विहसतिवदनः ।
४. ख सम्यते । ५. ख. नाऽस्ति ।

मरकतशैलेत्यादिना रघुनन्दनस्य निश्चलता व्यज्यते । तेन च चुम्बनादिजन्यः स्तम्भ इति । अत्र प्रतीपालङ्कारध्वनितवस्तुध्वनिः ।।३।[1]

कुण्डलसमललनालिमण्डितो[2] घन इव[3] चपलामालः ।
विश्वनाथनाथोऽतिकौतुक कुरुते परमविशालः[4] ।।४।।

कुण्डलसमेति । चपलाया माला यस्य, तादृशघन इव, कुण्डलसमया ललनाल्या[5] मण्डित सखीमण्डलमध्यस्थित इति यावत्, परमविशालो विश्वनाथनाथोऽतिकौतुक कुरुते । अत्र चपलोपमया क्रीडन्त्यः सख्यः उच्छलन्तीभिर्लहरीभिः कदाचिदाच्छाद्यन्ते, कदाचिद्दृश्यन्ते इति व्यज्यते । अत्रोपमालङ्कारेण वस्तुध्वनि. । कुण्डलेत्यादिना पलायितो मा भूदावृत्य जेष्याम इति सखीनामाशयो व्यज्यते । तेन रघुनन्दनोपरि परितो जलसेचनमिति ।।४।।

निर्गत्याऽथ प्रवाहादभिनववसनैर्भूषणैरङ्गरागै-
रात्मान भूषयित्वा निजरुचिपटलोद्भासिताशान्तराले ।
स्थित्वा सिंहासने तौ तटभुवि निहिते सादर मोदमाना-
वन्योन्यालोकलीलारसमनुभवतो जानकीरामचन्द्रौ ।।।१।।

इति श्रीमन्महाराजकुमार[6]—श्रीविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनदने सरजूतद्विहारवर्णन नाम चतुर्द्दशः सर्गः ।।१४।।

निर्गत्येति । अथ जलक्रीडानन्तर जानकीरामचन्द्रौ प्रवाहान्निर्गत्य,[7] अभिनववसनैर्भूषणैरङ्गरागैश्चाऽऽत्मानं भूषयित्वा, तटभुवि निहिते, निजरुचिपटलेनोद्भासित आशानां दिशामन्तराल मध्य येन तत् तस्मिन्, सिंहासने स्थित्वा, मोदमानौ अन्योन्यालोकलीलारसं सादर यथा तथा अनुभवतः । निजरुचीत्यादिना सिंहासन स्वरोचिश्छटाभिरुदितसूर्यप्रकाश मन्दयतीति व्यज्यते । तेन च सिंहानस्याऽलौकिकतेति । १।।

[इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीविश्वनाथसिंहकृतायां व्यग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि टीकायां चतुर्द्दश. सर्गः ।।१४।।][8]

———

१ ख ०ध्वनितवस्तुना वस्तुध्वनि. । २ ख कुण्डलनामासमललनालियमण्डितो ।
३. ख नाऽस्ति । ४. ख. ०विशाला । ५. ख. ललनानामाल्या । ६. ख श्रीमहाराजकुमार ।
७ ख. प्रवाहनिर्गत्य । ८ [—] अयमशः ख. पुस्तके नाऽस्ति ।

[अथ पञ्चदशः सर्गः]

उत्थाय रामो जनकात्मजाया.,
पाणि गृहीत्वा परमादरेण[1] ।
शुभ्रातपत्रेण विरोचमानो,
निकेतनप्राङ्गणमाजगाम ॥२॥

उत्थायेति स्पष्टम् । अत्र प्रातःकाले आतपत्रदानेन रघुनन्दनस्य बालसूर्यस्याऽपि किरणासहिष्णुत्व[2] व्यज्यते । 'तेन च सुकुमारतातिशय इति'[3] । विरोचमान इत्यत्र श्वेतमणिजटितच्छत्रे पतिताभि सूर्यकिरणच्छटाभिर्मिलिता श्रीजानकीरघुनन्दनयोरनेकवर्णमणिभूषणापूर्वरोचिश्छटा.[4] परितः प्रसरन्तीति भाव. ॥१॥

कल्पतरुतले कमनीयमन्दिरं[5] वह्निरविचन्द्रैरावृतम्[6] ।
स्वर्णमयवेदिक सर्वतः[7] सर्वत सेन्दिरम् ॥१॥[8]

[कल्पतरुतलेति । स्वर्णमयी वेदिका यस्मिस्तत्, वह्निरविचन्द्रैरावृतम्,[9] प्रथममावरण वह्निमण्डलस्य, द्वितीयं सूर्यमण्डलस्य, तृतीय चन्द्रमण्डलस्य, सर्वतः सेन्दिर इन्दिरा शोभा तया सहितम्, कमनीय[10] मन्दिर कल्पतरुतले वर्त्तते । वह्नीत्यादिपदेनैव[11] वक्ष्यमाणरासो रामबीजान्तर्गत[12] इति व्यज्यते । तेन चाऽस्याऽतिगुप्ततेति[13] ॥१॥][14]

ललितसकलोपकरणे[15] सशोभिते तत्र सिंहासने[16] परमरम्यौ ।
रेजतुर्जानकीजानकीनायकौ[17] विश्वनाथार्चितौ भावगम्यौ ॥२॥

ललितेति । ललितेन सकलोपकरणेन छत्रचामरव्यजनासनादिसामग्र्या सशोभिते, तत्र मन्दिरे, भावगम्यौ भावेन भावनया गम्यौ प्राप्यौ, विश्वनाथेन अर्चितौ पूजितौ, परमरम्यौ जानकीजानकीनायकौ[18] सिंहासने रेजतु[19] । भावगम्यावित्यनेन येऽत्रैव वर्णितभावनया सर्वदा ध्यायन्ति त एवैवम्भूत

१ क परमासरेण । ख परमादरे । २. ख. किरणसहिष्णुत्वं । ३ '—' अंशस्याऽस्याऽभावः क पुस्तके । ४. क ०मणिभूषणा पूर्व० । ५ ख. कमनीमतमदिर । ६. ख. रविचन्दिरै० । ७ ख. सर्वतत । ८ पद्यमिदं नाऽस्ति क पुस्तके । ९. ख. ०रविचद्ररैरावृतम् । १० ख कमनीयत । ११. ख ०पदेनैष । १२. ख रामबोजान्तर्गत । १३ ख ०गुप्तेति । १४. [—] कोष्ठकान्तर्गतोंऽशो न विद्यते क पुस्तके । १५. क. सकलोपकरण । १६ ख. हिंसासने । १७. ख हेजतुर्जानकीनायकौ । १८. क ०नायकौ । १९ ख. जतुः ।

रघुनन्दनं प्राप्नुवन्तीति व्यज्यते । तेन च तत्राऽस्य ग्रन्थोऽन्तरङ्गोपासनाप्रद इति ॥२॥

अथ निजपरमागारे विकसितकमलालयाकारे ।
रामो रासविधान मुदा सखीभि समातनुत[1] ॥१॥

तत्र[2] मन्दिरेति[3] भावनायोग्य रासं विस्तरेण दर्शयन्नाऽऽह—अथेति । अथेति नित्यरासवर्णने मङ्गलार्थः । रामः विकसितस्य कमलालयस्य कमलस्येवाऽऽकारो[4] यस्य तत्र, निजपरमागारे, सदा सखीभिः साक रासविधान समातनुत । अत्र कमलालयेत्यादिना मन्दिरस्य यन्त्ररूपता व्यज्यते । तेन च तत्र स्थिताना बीजरूपतेति ॥१॥

सीतासमेतप्रियरासलीलावलोकनानन्दभरालसाङ्गी ।
नामानि कासाञ्चिदुदाहरन्ती काचित्सखी कामपि सञ्जगाद ॥२॥

सीतासमेतेति स्पष्टम् । एतेनेमे सख्यौ रासदर्शनार्थं बहिर्निस्सृते इति व्यज्यते । तेन च रासकरणानन्दाद् रासदर्शनानन्दस्याऽऽधिक्यमिति[5] ॥२॥

विहरति सीतारामो मध्ये सखीनयनविश्राम । ध्रुवपदम्[6] ।

विहरतीति । सखीना नयनयोर्विश्रामो यस्मिन् सः, सीतया सहितो रामः, मध्ये विहरति । तथा नृत्यति यथा सकलसख्य सम्मुखमेव त पश्यन्तीति[7] [सखीत्यादिपदेन व्यज्यते । तेन च नृत्यचमत्कार इति][8] ।

इह वर्त्तुले पद्मा १ च सेव्या २ ऽथो सुकेशी ३ सहजया ४ ।
'तारा ५ वीराङ्गानुजा ६ च कमला ७ तथा कमलालया ८'[9] ॥१।

+इह वर्त्तुले कर्णिकामध्ये मण्डले अष्टसख्य । सहजयेति सहार्थे तृतीया ॥१॥+[10]

---

१ ख समातनुते । २. ख रति । ३. क मदि । ४ क कसकलस्येवाकरो ।
५. क ०धिक्यमि । ६. ख ध्रुपदम् । ७ ख पश्य । ८ [—] अस्याऽशस्याऽभाव ख. पुस्तके । ९ '—' श्लोकार्द्धमिद क पुस्तके नाऽस्ति । १० +-+ चिह्नान्तर्गांशस्थाने ख पुस्तकेऽयमशो लभ्यते—'कामध्यमडले अष्टसख्य' सहजयेतीति सखीत्यादिपदेन व्यज्यते । तेन च नृत्यचमत्कार इति । इह वर्त्तुलोकस्मि सहार्थे तृतीया' ।

सखी केसरेषूर्वशी[1] १ रम्भा २ मेनका ३ मृगलोचना ४ ।
चन्द्रावली ५ कर्पूरगन्धा ६ कलरवा ७ वरलोचना ८ ॥२॥

क्षेमा ९ च हेमा १० वरारोहा ११ पद्मगन्धा १२ गालिनी १३
सुरतोत्सवा १४ हरिणी १५ कमलिनी १६ रमा १७ राधा १८
हसिनी १९ ।

केसरेष्वेकोनविंशतिसख्य. ॥२॥३॥

षोडशसु दलेषु[2] नृत्यति पद्महस्ता१ वृन्दया२
सुप्रेयसी३ च मनोरमा४ विमला५ सुनयना६ नित्यया७ ॥४॥

असिता८ सिता९ शुकसम्भवा१० हरिवल्लभा११ सुविशारदा१२
पुनरुमा१३ प्रकृति१४ महामाया१५ वेदजातिविशारदा[3]१६ ॥५॥

सख्युपदलेषु[4] द्वादशालीमण्डली विलसति नता ।
क्षीरोद्भवा१ ऽपि च भद्ररूपा२ भद्रदा[5] विद्युल्लता४ ॥६॥

सखिचारुशीला५ चारुरूपा६ सती७ हंससुगामिनी८ ।
वरपद्मरेखा९ प्रेमदा१० सुस्मिता११ कुङ्कुमगन्धिनी१२ ॥७॥

षोडशदले शोभना१ शुभदा२ सुस्मिता३ शान्ता४ धरा५ ।
सन्तोषिका[6]६ सुखदा७ सुवर्णा८ क्षेमदा[7]९ क्षेमा१० परा ॥८॥

इह चारुदेहा११ रुचिररूपा१२ चारुदृक्१३ सुरसोत्सुका१४ ।
धात्री१५ सुधीरा१६ कमलमध्यस्थानगा रासोत्सुकाः ॥९॥

वृन्दयेत्यत्र नित्ययेत्यत्र च सहार्थे तृतीया ॥॥४॥५॥६॥७॥८॥९॥

उपदले रति १-रपि नति २-मती ३ कुशला ४ तथैव च मेदिनी
माल्या ६ महार्हा ७ माधवी ८ कामदा ९ कामविमोहिनी १०॥१

लीलाकला ११ प्रेमप्रदा[8] १२ षोडशसु कर्पूराङ्गिका[9] १ ।
वरसुधामुख्यु २-ज्ज्वला ३ कनका ४ सुरभि ५-रपि चित्राङ्गिका ६॥१

---

१ ख. ०सुर्वशी । २ ख तत्र दलेषु ३ क. वेदजातिविशादा । ४ क. सख्युपदेषु
५ क भद्रपा । ६. ख सातोषिका । ७. क. क्षमदा । ८ ख. प्रेमदा ।
९. ख. कपूरांगका ।

शशिमुखी ७ हंसी ८ वरश्रोणी[1] ९ चित्ररेखा १० शशिकला[2] ११ ।
विशदाक्षिका १२ शुभदन्तिका १३ माधुर्य्यका१४ च वरो१५ त्पला१६ ॥१२॥

तदनन्तरं शतसखीमण्डलमस्ति तदुपरि दशशतम् ।
अयुत ततस्तदनन्तर पुनरथो[3] लक्ष सन्ततम् ॥१३॥

पुनरालिनियुत भाति वितत कोटिरपि तदनन्तरम् ।
दशकोटिशो विलसन्ति सख्यो दिग्विदिक्षु निरन्तरम् ॥१४॥

नतिमत्योर्द्वन्द्व : ॥१०॥११॥१२॥१३॥१४॥

सव्यजनचामरकादिसकलवरोपकरणलसत्करा ।
वीणामृदङ्गोपाङ्गतोयतरङ्गवादनतत्परा[4] ॥१५॥

गायन्ति[5] गीतमनुत्तम विहितेतरेतरमोहनम्[6] ।
सङ्गीतक नृत्यन्ति सकला[7] विश्वनाथविनोदनम् ॥१६॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार-श्रीविश्वनाथसिंहकृते सगीतरघुनदने
'सखीस्थितिनाम सख्यावर्णन नाम'[8] पचदश सर्गः ॥१५॥

सव्यजनचामरकादिभि[9] सकलैर्वरैः श्रेष्ठैरुपकरणैर्लसन्तः करा यासा ताः, वीणामृदङ्गोपाङ्गतोयतरङ्गाना[10] वादने[11] तत्पराः, एता. सकलाः सख्यः, विश्वनाथस्य श्रीरघुनन्दनस्य विनोदन[12] विनोदजनक उत्तम गीत, विहितमितरेतरमोहन यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा, गायन्ति[13], सङ्गीतक च नृत्यन्ति ॥१५॥१६॥

इति श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचन्द्रकृपापात्राधिकारिविश्वनाथसिंहकृतायां[14] व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिकानाम्नि[15] टीकाया पचदश[16]सर्ग. ॥१५॥

---

१. ख वरश्रो । २ ख कृशिकला । ३ ख. पुनथो । ४. ख. ०पाङ्गतोद्यतरङ्ग० ।
५ क गायती । ६ क विहितेसरेतर० । ७ क कला ।
८ '—' ख. सखीस्थितिनामटीकाया । ९ ख. शद्वजनकचामरकादिभिः ।
१०. क ०नरगात्वां । ११. क वात्र । १२ क नास्ति । १३ क गायन्ती ।
१४ ख श्रीमहाराजाधिराज० । १५ ख ०नाम । १६ ख पचदशो ।

[अथ षोडशः सर्गः]

विधिहरिहरमुनिवरमानससञ्चारिन्, !
परतररघुवरचरितसुधारिन् !

रासरसिकसच्चेतोहारिन्[1] !
मदुरश्चन्दन सङ्गीतरघुनन्दन ! त्वामहं नीराजयामि ।

अतिदुस्तरदुःखाकरभवसागरतारिन् !,
सततप्रेमसुरूपोद्गारिन्नुज्ज्वलरसविस्तारिन्[2] ! ।

रघुपतिमतिकारिन्नमलयशःप्रसारिन् !,
श्रोतृश्रवणसुधाधारासन्धारिन् ! ॥

शमनभवनगमनहरणपणधारिन् !
भीतिविभञ्जन[3] सज्जनरञ्जन हृतमायाञ्जन !
कुत्सितगुणगञ्जन सद्गुणगोवर्द्धन[4] भूतिविवर्द्धन ! त्वामहं प्रणमामि ।

टीका—विधिहरीति । विधिहरिहरमुनिवराणां मानसे सञ्चरणशील, परतररघुवरचरितस्य धारणशील, रासरसिकानां सच्चेतो हरणशील, ममोरसश्चन्दन, चन्दनवत्सन्तापहरेत्यर्थः,[5] एवम्भूत हे सङ्गीतरघुनन्दन ! त्वामहं नीराजयामि । अथ परमविशेषणेनाऽस्य[6] रघुनन्दनसमानरूपता व्यञ्जिता । तेन च सर्वोत्कृष्टतेति । अतिदुस्तरो दुःखानामाकरो[7] यो भवसागरस्तं तारयतीति तत्सम्बुद्धिः, सततं प्रेम्णः सुपूरमुद्गिरतीति[8] तत्सम्बुद्धिः, रघुपतौ मतिं कारयतीति तत्सम्बुद्धिः, श्रोतॄणां श्रवणयोः[9] सुधाधारां सन्धरतीति तत्सम्बुद्धिः । श्रोतृश्रवणेत्यादिविशेषणेनाऽस्याऽतिमाधुर्य्यं व्यज्यते । हृतं मायैवाऽञ्जनं येन[10] तत्सम्बुद्धिः, सद्गुणा एव गावस्ता वर्द्धयतीति तत्सम्बुद्धिः, यथा गोवर्द्धनः पर्वतो गा वर्द्धितवांस्तथैवेति भावः । शेषं स्पष्टम् । अतिदुस्तरेत्यादिविशेषणैरिहाऽमुत्र चाऽस्य सुखदातृत्वं व्यज्यते । तेन चाऽवश्यधारणयोग्यतेति ।

---

१. ख ०सुच्चेतोहारिन् । २. ख. ०विस्तारन् । ३. ख भीतविभञ्जन । ४ क. सगुणवर्द्धन । ५ ख. चन्दवत्० । ६ ख प्रथमविशेषणे० । ७ ख ०माकारो । ८ ख स्पुररमुद्गि । ९. ख. श्रवण । १०. क. वेन ।

रासप्रतिपादक[१] पञ्चपापबाधक[२] सकलसिद्धिसाधक रसिकशिरोमणि-मादकनृत्यगीतनादक सकलसत्कर्मभगवद्धर्मशर्मकर[३] नर्मसञ्चरण जननमरणहरण सुमतिभरण हावभावविस्तारण जनशरणचरण[४] वर्णवर्णदुरितदरण[५] सकल-लीलाभरण शिवशुकस्मरण[६] महामोहान्धतमसो[७] हरणे तरणे[८] साकेतपरमसरणे निगमागमसिद्धान्तशिरोमणे शमदमयमनियमादिफलचतुर्वर्गफलितकल्पतरो ! त्वा-मह[९] भावयामि ।

टीका—रासेति । पञ्चपापानि[१०] ब्रह्महत्यादीनि बाधयतीति तत्सम्बुद्धिः, सकलानां सता कर्मणा च भगवतो धर्माणा च शर्मणा च कर कारकेत्यर्थः । नर्मणा जानकीरघुनन्दनयोरेकान्तरहस्याना[११] सञ्चरण प्रचारो यस्मात् स तत्सम्बुद्धिः, जननमरणे[१२] हरतीति, सुमतिं बिभर्त्ति पुष्णातीति, हावा लीलाविलासादयस्तेपा[१३] भावं भावना विस्तृणातीति, जनाना शरण रक्षक चरण पद्यचतुर्थांशो यस्य तत्सम्वुद्धि', वर्णाना ब्राह्मणादीना वर्णैरक्षरैर्दुरित दृणाति विदारयतीति, सकलाना लीलानामाभरण भूषणस्वरूप, शिवशुकयोः स्मरण जानकीरघुनन्दनचिन्तनस्वरूप, महामोह[१४]एवाऽन्धतम[१५] तस्य हरण नाशन तत्र, तरणे[१६] सूर्य्य, साकेतस्य परमसरणे उत्कृष्टमार्गस्वरूप, निगमा वेदा आगमाः शास्त्राणि तेषा सिद्धान्तशिरोमणे, तत्परमसिद्धान्तेत्यर्थः । एतेन सर्वं[१७] त्यक्त्वा त्वमेव भावनीय इति व्यज्यते । तेन चैतदल्पायास[१८] महाफलमिति । चतुर्वर्गै-रर्थधर्मकाममोक्षैः फलित' स चाऽसौ कल्पतरुश्च तत्सम्बुद्धिः[१९] ।

विश्वनाथमानससरोजनि सृतछन्द'कोकनदव्यङ्ग्यमकरन्दमिश्रित[२०] राग-रससम्भृत तालशैवालवलित तानतरङ्गोच्छलित मूर्च्छनामीनसङ्कुलित सप्तस्वरा-वर्त्तकलित[२१] श्रुतिमरालकुलाकुलित लघुगुरुप्लुतादिभेदपुलिनोज्ज्वलित ज्ञानकर्म-कूलदलनोल्लसित[२२] विविधवाद्यगतिकुमुदिनीदलहरित[२३] लयसत्त्वरितसच्छ्रवण-सागरमिलितसीतारामचरितचलितसरिद्रूप ! त्वामह गायामि ।

---

१ क. ०प्रतिपादक । २. क. ०पापाबाधक । ३. क सकलसत्कूर्म० । ४. ख. जननशरण० । ५. क. वर्णे वर्ण० । ६ क शिस्मरण । ७ ख महामोहान्धतमस । ८ क तरे । ९ क. मह । १० क ०पापीनि । ११. ख. ०नन्दनयोयेकान्त० । १२ क. जन्ममरणे । १३. क. लीलासादय० । १४ क मह मह । १५ क एवांधतसमस । ख एवान्धतमसं । १६ ख तरणे हि । १७ क सेत । १८ ख चैतदरालपाल्पायास । १९ क तसबुद्धि । २० क ०व्यगममरद० । ख व्यगमकरद । २१ ख. सप्तसुरावर्त्त० । २२ क ०कूलदमनो० । २३. क तलयसत्वरितसच्छावनचलि..... तसरद्रूप ।

टीका—विश्वनाथेति। विश्वनाथः शिवः कविर्वा, तस्य मानसमेव सरस्तस्मान्नि.सृतछन्दांस्येव कोकनदानि रक्तकमलानि व्यङ्ग्यार्थ एव मकरन्दस्तैर्मिश्रित., रागा भैरवादयस्त एव रसाः जलानि तैः सम्भृतः, ताला एव शैवालानि तैर्वलितः युक्तः, ताना एव तरङ्गास्तैरुच्छलितः, मूर्च्छना[1] एव मीनास्तैः सङ्कुलित, सप्तस्वरा एवाऽऽवर्त्तास्तै[2] कलितः, श्रुतयो द्वाविंशतिः सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धास्ता एव मरालकुलानि तैराकुलितः, लघुगुरुप्लुतादिभेदा एव पुलिनानि तैरुज्ज्वलित., आदिपदेनाऽणुद्रुतादीना[3] सङ्ग्रहः। ज्ञानकर्मणी एव कूले तयोर्दलनेनोल्लसित. शोभित, विविधेषु[4] वाद्येषु या गतयस्ता एव कुमुदिनीदलानि तैर्हरित, लयेन सत्वरितः सता श्रवणमेव सागरस्तत्र मिलित[5]-सीतारामचरितमेव चलिता[6] सरित्तद्रूपः। सरिद्रूपत्वेनाऽस्य रसमयत्व व्यज्यते। अत्र रूपकालङ्कारेण वस्तुध्वनि.। विश्वनाथेत्यादिना साधनावस्थायामपि परमसुखदत्वमिति व्यज्यते। तेन च तव गानयोग्यतेति।[7]

एषा माधुर्य्यधारा धरणितलगता विश्वनाथप्रचारा,
भास्वत्सन्तानतारापरिवृढविशदध्यानसन्धानसारा।
पापौघोदञ्चदारा[8] भवजलधिसमुत्तारणे नौरुदारा,
शृङ्गारैकप्रसारा जयति परगुणग्राहकस्वान्तकारा ॥१॥

इति श्रीमन्महाराजकुमारविश्वनाथसिंहविरचिते सगीतरघुनदने ग्रथमाहात्म्यवर्णनपूर्वकप्रणामादिविधान नाम षोडश. सर्गः ॥१६॥[9] श्रीसीताराम राम राम ॥

एषेति। भास्वत्सन्तानतारा[10]-परिवृढस्य चन्द्रमस. श्रीरामचन्द्रस्य विशदध्यानस्य सन्धानमेव सारो यस्या सा, या काञ्चिदपि लीला कुर्वन् श्रीरघुनन्दनो रासमेव ध्यायतीति भाव.। पापौघस्य उदञ्चन्ती आरा, भवजलधेः समुत्तारणे उदारा नौ, परगुणग्राहकाणा स्वान्तस्य[11] मनस. कारा वन्धनगृहम्। एतेन रामरासरसिका इम श्रुत्वा अन्य न[12] स्मरिष्यन्तीति व्यज्यते। तेन च तेषामनन्यभक्तत्वमिति। शृङ्गारस्य एको मुख्यः प्रसारो

१ क मूर्च्छना। २. ख. सप्तस्वारावावार्त्तास्तै। ३ ख. ०नाऽणुन्दुतादीना।
४. ख. विवुधेषु। ५. क ख. पुस्तकद्वये 'मित' इति। ६ क. चलिलिता। ७. ख. पुस्तके-
ं गद्यवन्धटीकायां सन्ति प्रथमाविभक्त्यैकवचनान्ता सर्वेऽपि शब्दा ह्यविसर्गाः।
ख पापौघोदंच०। ९ ख. १६ सम्पूर्णम् शुभमस्तु मंगलं दद्यात् सम्वत् १९२६ माघ
..ल ८ कुज। १०. ख. भास्वत्सजामतारा०। ११. ख. स्यातस्य। १२. ख. ना।

यस्या सा, विश्वनाथाच्छिवात्कवेर्वा रघुनाथात्प्रचारो यस्याः सा । रघुनन्दन एवेम ग्रन्थ विचार्य मन्मुखेन प्रकटितवानिति भावः । धरणितलगता एषा माधुर्य्यधारा जयति सर्वातिशयतया[1] वर्त्तते । ईदृशोऽन्येषु ग्रन्थेषु माधुर्यरसो[2] नाऽस्तीति भावः ।

रासप्रेमचमत्कारप्रमोदाय महात्मनाम्[3] ।
विन्ध्येशविश्वनाथेन[4] कृता व्यङ्ग्यार्थचन्द्रिका ॥

इति सिद्धिश्रीमन्महाराजाधिराजश्रीमहाराजश्रीराजाबहादुर
रामचद्रकृपापात्राधिकारि-[5]श्रीविश्वनाथसिंहदेवकृतायां
व्यंग्यार्थचद्रिकानाम्नि टीकायां षोडशः सर्गः ॥१६॥

—ै —ाढ वदि ७ कह संवत् १८९१ के ।



१. क सर्वातिशयतया । २. क. माधुर्यरासौ । ३. क. क्वाहात्सतम् । ४. ख. विधेश० ।
५. ख. सिद्धिः श्रीमन्महाराजाधिराजश्रीरामचंद्रकृपापात्राधिकारि० ।

परिशिष्ट १

वाल्मीकि ने देवर्षि नारद से पूछा था[1]—"हे मुने ! इस समय इस ससार मे गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, उपकार मानने वाला, सत्यवक्ता और दृढप्रतिज्ञ कौन है ? सदाचार से युक्त, समस्त प्राणियो का हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर पुरुष) कौन है ? मन पर अधिकार रखने वाला, क्रोध को जीतने वाला, कान्तिमान् और किसी की भी निन्दा नही करने वाला कौन है ? तथा सग्राम मे कुपित होने पर किससे देवता भी डरते हैं ? महर्षे ! मैं यह सुनना चाहता हूँ, इसके लिए मुझे बडी उत्सुकता है, और आप ऐसे पुरुष को जानने मे समर्थ है"।

इसके उत्तर मे नारद ने कहा—[2] "मुने ! आपने जिन बहुत से दुर्लभ गुणो का वर्णन किया है, उनसे युक्त पुरुष के विषय मे विचार करके कहता हूँ। आप सुनें। इक्ष्वाकु के वश मे उत्पन्न और राम-नाम से विख्यात एक पुरुष हुए है। एक वे ही मन को वश मे रखने वाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान्, और जितेन्द्रिय है। वे बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुसहारक हैं। उनके कन्धे मोटे और भुजाएँ बडी-बडी हैं। ग्रीवा शंख के समान और ठोढी मासल (पुष्ट) है"।

---

१. को न्वस्मिन् साम्प्रत लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥२॥
चारित्रेण च को युक्त सर्वभूतेषु को हित. ।
विद्वान् क॰ क समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥३॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयक ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य सयुगे ॥४॥
एतदिच्छाम्यह श्रोतु परं कौतूहल हि मे ।
महर्षे त्व समर्थोऽसि ज्ञातुमेवविध नरम् ॥५॥

(वाल्मीकिरामायण—प्रथम सर्ग)

२. बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः ।
मुने वक्ष्याम्यह बुद्ध्वा तैर्युक्त श्रूयतां नर. ॥७॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनै श्रुत ।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥८॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः ।
विपुलांसो महाबाहु कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥९॥

(वाल्मीकिरामायण—प्रथम सर्ग)

[1]"उनका वक्षस्थल विशाल तथा धनुष बड़ा है, गले के नीचे की हड्डी (हंसली) मांस से छिपी हुई है। वे शत्रुओं के दमनकर्त्ता हैं। उनकी भुजाएँ घुटने तक लम्बी है, मस्तक सुन्दर है, ललाट भव्य और चाल मनोहर है। उनका शरीर (अधिक ऊँचा या नाटा न होकर) मध्यम और सुडौल है, देह का रंग चिकना है। वे बड़े ही प्रतापी हैं। उनका वक्षस्थल भरा हुआ है, आँखे बड़ी बडी है। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मन को एकाग्र रखने वाले है। प्रजापति के समान पालक, श्रीसम्पन्न, वैरिविध्वसक और जीवों तथा धर्म के रक्षक है। स्वधर्म और स्वजनो के पालक, वेद-वेदांगो के तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेद मे प्रवीण है। वे अखिल शास्त्रो के तत्त्वज्ञ, स्मरणशक्ति से युक्त और प्रतिभासम्पन्न है। अच्छे विचार और उदार हृदय वाले वे श्रीरामचन्द्रजी बातचीत करने मे चतुर तथा समस्त लोको के प्रिय हैं।"

[2]"जैसे नदियाँ समुद्र से मिलती है, उसी प्रकार सदा राम से साधु पुरुष मिलते रहते हैं। वे आर्य एव सबके प्रति समान भाव रखने वाले हैं, उनका दर्शन सदैव प्रिय मालूम होता है। सम्पूर्ण गुणो से युक्त ये रामचन्द्रजी अपनी माता कौशल्या के आनन्द बढाने वाले हैं, गम्भीरता मे समुद्र और धैर्य में हिमालय के समान है।"

---

१. महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहु' सुशिरा. सुललाट सुविक्रम ॥१०॥
सम समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्ण. प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥११॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्न. शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥१२॥
प्रजापतिसम' श्रीमान् धाता रिपुनिषूदन.।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥१३॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठित ॥१४॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रिय साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥१५॥

(वाल्मीकिरामायण—प्रथम सर्ग)

२. सर्वदाऽभिगत: सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥१६॥
स च सर्वगुणोपेत: कौसल्यानन्दवर्धन.।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥१७॥

(वाल्मीकिरामायण—प्रथम सर्ग)

परिशिष्ट २

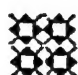
कृतियाँ —

विश्वनाथसिंह के ग्रन्थो की निश्चित सख्या प्रस्तुत नही की ज सकती । ज्ञात कृतियो का विवरण इस प्रकार है·—

१ रामगीता-टीका
२ तत्त्वमस्यर्थसिद्धान्तभाष्य
३. राधावल्लभी-भाष्य
४. सर्वसिद्धान्त
५ रामरहस्य टीका
६. राममत्रार्थनिर्णय-टीका
७. सुमार्गस्तोत्रटीका
८. वीजकटीका
९ विनयपत्रिकाटीका
१०. वैष्णवसिद्धान्तटीका
११. धनुर्विद्या
१२. रामचन्द्रिकाह्निकतिलक
१३. रागसागराह्निक
१४. सगीतरघुनंदन
१५. भुक्तिमुक्तिसदानन्दसंदोह
१६. दीक्षानिर्णय
१७. व्यंग्यार्थचन्द्रिका
१८. भागवत-एकादशस्कन्धटीका
१९ सुमार्ग की ज्योत्स्नाटीका
२०. रामपरत्व
२१. व्यग्यप्रकाश
२२ विश्वनाथप्रकाश
२३. आह्निक अष्टयाम
२४. धर्मशास्त्रत्रिशत्श्लोकी
२५. परधर्मनिर्णय
२६. शान्तिशतक
२७ विश्वनाथचरित
२८ ध्रुवाष्टक सतिलक
२९. मृगयाशतक
३०. परमतत्त्व
३१ उत्तमकाव्यप्रकाश
३२. गीतारघुनदनशतिका
३३ आनन्दरामायण
३४ गीतारघुनदन प्रामाणिक
३५ सर्वसग्रह
३६ रामचन्द्र जू की सवारी
३७ भजनमाला
३८. आनन्दरघुनन्दन-नाटक
३९. रागसागराह्निक
४०. वेदान्तपचशतिका
४१ उत्तमनीतिचन्द्रिका
४२ अबाधनीति
४३. ध्यानमजरी
४४. चौरासी रमैनी
४५. कहरा
४६. शब्द
४७. आदिमगल
४८. साखी
४९. बसन्त-चौंतीसी
५०. पाखण्डखण्डिनी

उपर्युक्त रचनाओ की विपुल सख्या मे यह भी संभव है कि इनमें से कुछ रचनाएँ अन्य दरबारी कवियो से सम्बद्ध हों। इन कृतियो के अतिरिक्त महाराज विश्वनाथसिह के नाम से निम्नलिखित रचनाएँ भी राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान को उदयपुर शाखा मे है ग्रन्थाङ्क पूर्व प्रकाशित सूचीपत्र के दिए गए है।

१. ११९/१९४० अयोध्यामाहात्म्य—(कुल पत्र—८)
२. ३२३/२१४४ अयोध्याजी के भजन—(कुल ७३ भजन)
३. ३२४/२१४५ श्रृंगार के कवित्त (कुल ५० पद—१० पत्र)
४. २७८/२०९९ शिकार के कवित्त (१० पत्र)
५. ३२२/२१४३ वीरविजय (धनुर्वेद) (१६ पत्र)
६. ३२६/२१४७ विनैमाल-रचनाकाल-१८७९ वि०
७ २७९/२१०० राजनीति के पद (अपूर्ण) (१७ पत्र)
८ ११४/१९३५ गीतावली (८८ पत्र)
२८०/२१०१ हनुमानजी के कवित्त (रचनाकाल १८८९ वि०)



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	उपल	उपलं
२	६	वदुदाहरणानि	तदुदाहरणानि
४	१६	प्रकीतिता	प्रकीर्तिता
४	१६	स्वादाकारश्च	स्यादाकारश्च
५	६	प्राशस्त्यार्थे	प्राशस्त्यर्थे
८	१६	गीविन्द	गोविन्द
११	३	ससारसागरे	संसारसागरे
११	२१	यतोऽपकत्तुं	यतोऽपकर्त्तुं
१४	१८	अघगण	अघगण
१६	१५	परमहस	परमहस
१७	१५	मह्यपपि	मह्यमपि
२१	२२	नाशनेर्थः	नाशनेत्यर्थः
३३	५	कुमकमा	कुमकुमा
३३	८	श्रुतो	श्रुती
४५	५	अश्रित	आश्रित
५६	६	कथत व	कथ तव
५६	७	क्तिरिति	उक्तिरिति
६०	३	स्वोय	स्वीय
६२	५	सद्धिर्भविष्य	सिद्धिर्भविष्य
६३	१५	ललितान्तस्कामद	ललितान्तरकामद
६७	१६	धिकमिति	मधिकमिति
७०	१४	य्यञ्जितवती	व्यञ्जितवती
८१	१४	बैकुण्ठे	वैकुण्ठे
८५	७	वचनामतेन	वचनामृतेन
८५	१६	केलिक्ला	केलिकला
८६	१६	पश्यम	पश्यन्न
८७	१	षण्णत्य	षण्णवत्य
८७	१६	सुखिताशम्	सुखिताक्षम्
१००	१२	नवोनघनेन	नवीनघनेन
११०	२१	सुख	मुखं
११६	१६	तद्विहार	तटविहार
११६	२२	सिहानस्य	सिंहासनस्य

पाठक अनुस्वार की अशुद्धियो को स्वप्रज्ञा से यथास्थान सुधार लेवें।